परशुराम

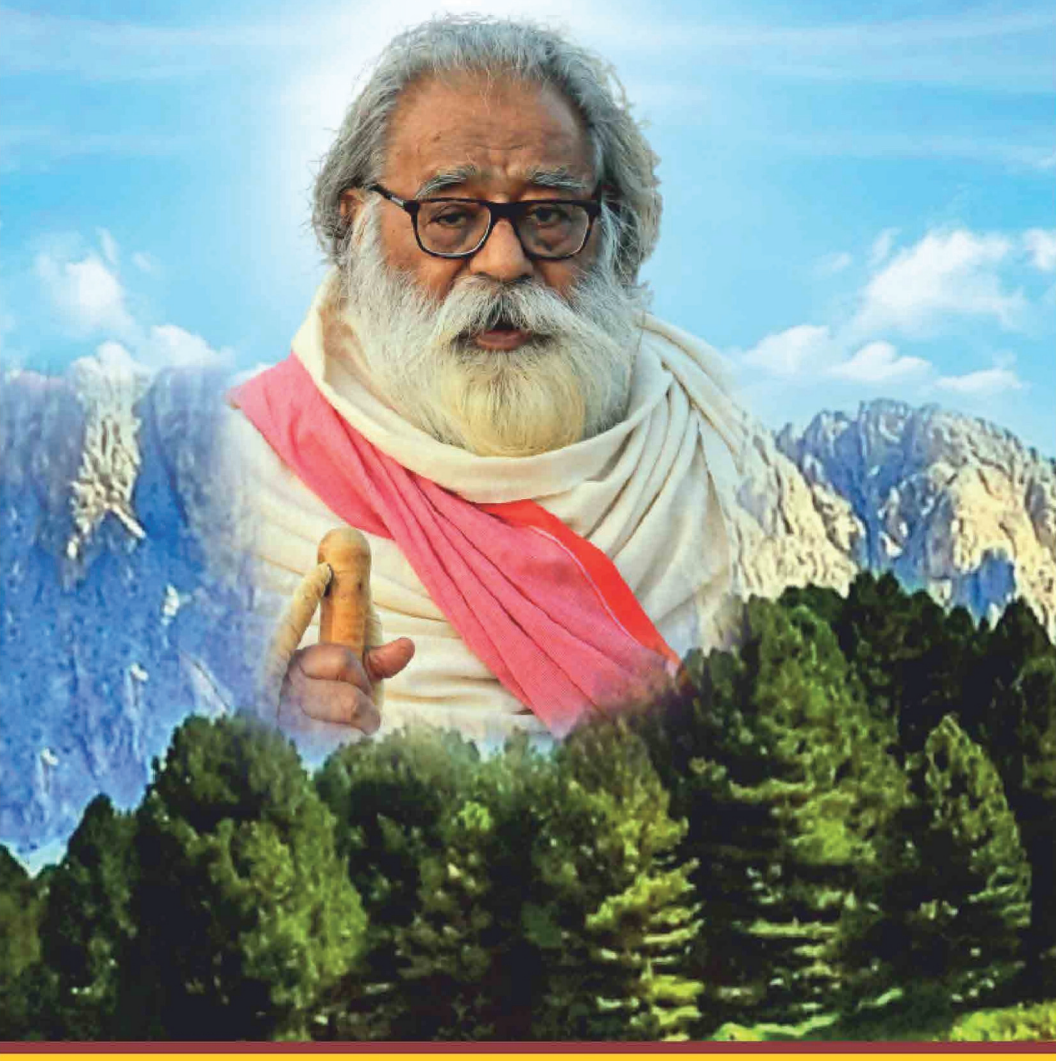

स्वामी अड़गड़ानन्द

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

परशुराम

लेखक :-

परमपूज्य श्री परमहंस जी महाराज का कृपा–प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम

शक्तेषगढ़, चुनार-मिर्जापुर (उ० प्र०)

फोन-(०५४४३) २३८०४०

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो स्टेट, गाला नं- ५ और ११ , मोगरा लेन (रेलवे सब वे के पास)

अंधेरी (पूर्व),मुंबई - ४०००६९, भारत. दुरध्वनी- (०२२) २८२५५३००.

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो स्टेट, गाला नं- 5 और 11, मोगरा लेन (रेलवे सब वे के पास)
अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - 400069
फोन - (022) 28255300
ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com
वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com

© लेखक– **श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज**

संस्करण– **द्वितीय** संस्करण

संशोधित संस्करण– दिसंबर सन् 2021

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया–चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्तःप्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।।
जय सद्गुरु.....भारी।।

।। ॐ ।।

"आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च"

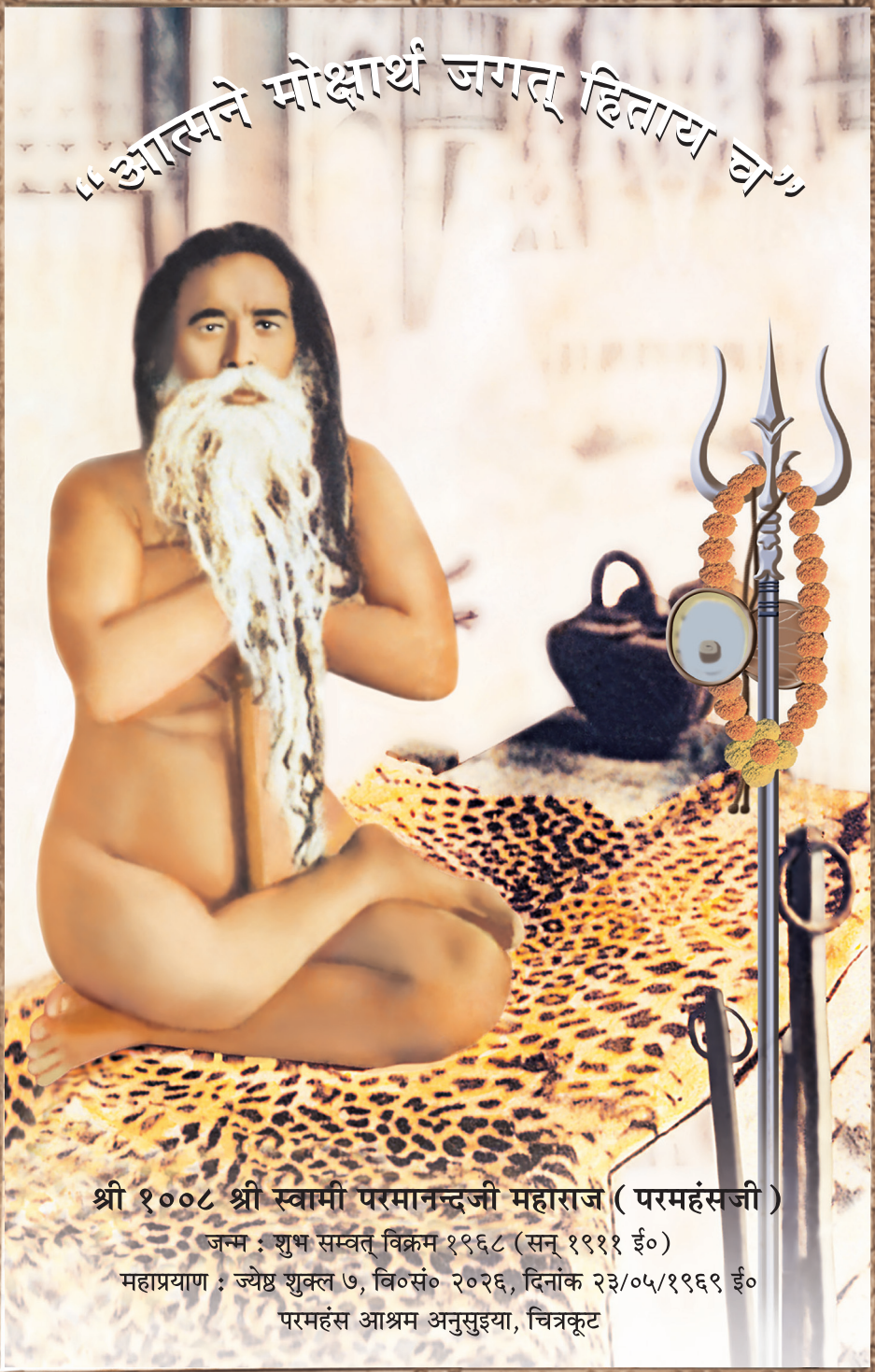

श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६८ (सन् १९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, वि०सं० २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई०

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट

श्री स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज

(परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद)

दो शब्द

जब कोई महात्मा अपने भावों या विचारों को जनमानस के सम्मुख सीधी-सादी बोली में प्रवचनों के माध्यम से भली-भाँति समझाकर व्यक्त करते हैं तो लगता है कि वे किसी का उपहास कर रहे हैं। लेकिन ऐसी बात नहीं है। महात्माओं के प्रवचनों में गूढ़ रहस्य छिपे रहते हैं, अतः उनके आशय को समझना कठिन हो जाता है।

रामचरितमानस के मंगलाचरण में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं–

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा।।
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू।।
सोइ उमेस मोहि पर अनुकूला। करिहिं कथा मुद मंगल मूला।।
(मानस, 1/14/5-7)

कलि के भयंकर प्रवाह को देखकर भगवान शिव-पार्वती ने जगत के कल्याण के लिए साबर मंत्रों की रचना की जिनमें न तो अक्षरों की संगति है, न जप का ही सिलसिला है, और न उनके अर्थ का ही विधान है किन्तु कलि में कल्याण करने की क्षमता है तो केवल साबर मंत्र में है। वे ही भवानी-शंकर मुझ पर अनुकूल हैं। मेरी इस कथा को भी वे परम कल्याणकारी बनायेंगे।

इस प्रकार पूरी की पूरी रामचरितमानस साबर मंत्र ही है जिसे संतों की कृपा से कोई अधिकारी ही समझ पाता है। मानस के उत्तरार्ध में महर्षि लोमश जी कागभुशुण्डि से कहते हैं–

रामचरित सर गुप्त सुहावा। सम्भु प्रसाद तात मैं पावा।।
तोहिं निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी।।
राम भगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं।।
(मानस, 7/112/11-13)

जिनके हृदय में भक्ति का प्रसार है, वही भक्त इसे समझ सकते हैं।

इसी प्रकार मानस का समापन करते हुए भगवान शंकर पार्वती से कहते हैं–

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कहुँ सतसंगति अति प्यारी॥
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई॥
(मानस, 7/127/6-7)

गुरु महाराज के चरणों में जिनकी श्रद्धा है, यह कथा उन्हीं के लिए है। भाषा के बल पर तो इसे कभी जाना ही नहीं जा सकता। श्रद्धा और भक्तिवाला ही इसे प्राप्त करता है।

प्रस्तुत पुस्तिका पूज्य महाराज जी की सामान्य बोलचाल की भाषा में किये गये प्रवचनों का एक संकलन है। प्रवचनों को पुस्तिका का रूप देते समय बाल्मीकि रामायण, श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भगवद्गीता, इतिहासग्रन्थ महाभारत आदि सन्दर्भित ग्रन्थों के नाम भी दे दिये गये हैं कि कोई अन्यथा न ले।

पुस्तिका के अंत में कथा का आध्यात्मिक रूपक प्रस्तुत कर सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तिका के सम्बन्ध में हम आपके बहुमूल्य विचारों का सदैव स्वागत करते हैं।

– प्रकाशक

॥ ॐ श्री सद्गुरवे नमः ॥

परशुराम

परशुराम के जन्म और कृतित्व से सम्बन्धित थोड़े-थोड़े अंतर के कई उपाख्यान महाभारत में हैं जिनमें से एक उपाख्यान महाभारत, शान्तिपर्व के अध्याय 49 में है। महाभारत-युद्ध समाप्त हो चुका था। शरशय्या पर पड़े भीष्म का निर्वाणकाल नजदीक आया हुआ जान राजा युधिष्ठिर भगवान श्रीकृष्ण के साथ उनसे मिलने कुरुक्षेत्र के रास्ते जा रहे थे। चलते-चलते भगवान श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को परशुरामजी का पराक्रम सुनाने लगे। वे कहने लगे– ''कुन्तीनन्दन! ये जो पाँच सरोवर कुछ दूर से दिखायी देते हैं, 'रामह्रद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं में परशुरामजी ने क्षत्रियों के रक्त से अपने पितरों का तर्पण किया था। उन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य करके यहीं आने के पश्चात् अब उस कर्म से विरत हो गये हैं।''

युधिष्ठिर ने प्रश्न किये– ''प्रभो! परशुरामजी ने क्षत्रियों का संहार किसलिये किया? जब उन्होंने क्षत्रियों का बीज तक दग्ध कर दिया, तब फिर क्षत्रिय जाति की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? आप मेरे सन्देह का निवारण कीजिये, क्योंकि कोई भी शास्त्र आपसे बढ़कर नहीं है।''

भगवान श्रीकृष्ण बोले– ''कुन्तीनन्दन! मैंने महर्षियों के मुख से परशुरामजी के प्रभाव, पराक्रम तथा जन्म की कथा जिस प्रकार सुनी है, वह सब आपको बताता हूँ। प्राचीनकाल में कुशवंश (जह्नुकुल) में कुशिक (कुशनाभ) नामक एक क्षत्रिय नरेश हुए। उनके इन्द्र के समान पराक्रमी गाधि नाम के पुत्र थे। जब वे दीर्घकाल तक पुत्रहीन रह गये, तब सन्तान की इच्छा से पत्नी सहित वन में चले गये। वहाँ उन्हें सत्यवती नाम की एक कन्या की प्राप्ति हुई। राजा गाधि ने उसका विवाह भृगु-पुत्र ऋचीक ऋषि से कर दिया। उसके सद्व्यवहार से प्रसन्न हो ऋषि ने उसे तथा उसकी माता को भी पुत्र-

प्राप्ति के लिये दो चरु तैयार किये और बोले– ''यह चरु तुम्हारे लिये है। इसमें मैंने ब्राह्मणोचित गुणों का समावेश किया है, अतः इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा वह धैर्यवान्, शान्त एवं तप-परायण होगा। तुम्हारी माता के चरु में क्षत्रियोचित गुणों का समावेश है, अतः उससे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह तेजस्वी और क्षत्रिय शिरोमणि होगा।'' सत्यवती को दोनों चरु देकर ऋषि तपस्या में तत्पर हो वन में चले गये।

उसी समय तीर्थयात्रा करते हुए राजा गाधि अपनी पत्नी के साथ ऋषि के आश्रम पर आये। सत्यवती दोनों चरुओं को लेकर शान्तभाव से अपनी माता के पास गयी। महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय 4 में है कि उसकी माता ने सोचा, प्रायः लोग अपने लिये निर्मल और सर्वगुणसम्पन्न श्रेष्ठ पुत्र की कामना करते हैं, अवश्य ही ऋचीक ने चरु-निर्माण करते समय ऐसा ही किया होगा। अतः वह सत्यवती से बोली– ''तुम भी चिन्तन करो कि तुम्हारा भाई किसी तरह श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हो। माता होने के कारण पहले से ही मेरा तुम पर अधिकार है, अतः तुम अपना चरु मुझे दे दो और मेरा चरु तुम ले लो।'' इस तरह सत्यवती और उसकी माता ने अपने-अपने चरुओं को अदल-बदलकर उपभोग किया।

जंगल से लौटने पर ऋषि ऋचीक दिव्यदृष्टि से सत्यवती के गर्भगत बालक को देखकर बोले-

मात्रासि व्यंसिता भद्रे चरुव्यतासहेतुना।
भविष्यति हि ते पुत्रः क्रूरकर्मात्यमर्षणः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, 49/18)

''भद्रे! तुम्हारी माता ने चरु बदलकर तुम्हें ठग लिया। तुम्हारा पुत्र अत्यन्त क्रोधी और क्रूरकर्मी होगा।'' पति के ऐसा कहने पर सत्यवती चरणों में गिर पड़ी और काँपते हुए स्वर में बोली–

नर्होऽसि भगवन्नद्य वक्तुमेवंविधं वचः।
ब्राह्मणासपदं पुत्रं प्राप्स्यसीति हि मां प्रभो॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, 49/22)

''प्रभो! आप ऐसी बात न कहें कि मैं ब्राह्मणाधम पुत्र उत्पन्न करूँगी। आप ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आपका और मेरा पौत्र भले ही उग्र स्वभाव का हो जाय, परन्तु पुत्र तो मुझे शान्त स्वभाववाला ही चाहिये।''

ऋचीक बोले– ''तुमने जैसा कहा है, वैसा ही होगा।''

समय आने पर सत्यवती ने तपस्वी जमदग्नि को पुत्ररूप में उत्पन्न किया और इधर गाधि नरेश की पत्नी ने ब्राह्मणोचित कर्मवाले विश्वामित्र को जन्म दिया।

बाल्मीकि रामायण में है कि राजा गाधि की मृत्यु के पश्चात् राज्यप्राप्ति के अनन्तर विश्वामित्र पर राजमद सवार हो गया। उन्होंने चक्रवर्ती बनने के लिए अभियान छेड़ दिया। एक समय वे अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ विचरण करते महर्षि वसिष्ठ के आश्रम पहुँचे। महर्षि ने उनका यथोचित आतिथ्य-सत्कार कर भोजन करने को कहा। इस पर विश्वामित्र बोले– ''ऋषिवर! मेरे साथ चतुरंगिणी सेना है, अतः मैं अकेले ही आपका आतिथ्य-सत्कार ग्रहण कर लेता हूँ।'' इस पर महर्षि ने कहा– ''राजन्! मैं सम्पूर्ण सेनासहित यथोचित आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ। आप मेरे अनुरोध को स्वीकार करें।'' महर्षि के आग्रह पर विश्वामित्र बोले– ''आप मेरे पूज्य हैं, अतः आपकी जैसी रुचि हो, आपको जो प्रिय लगे, वही करें।''

राजा के ऐसा कहने पर महर्षि ने कामधेनु की सहायता से अभीष्ट वस्तुओं की वर्षा कर सेनासहित उनका आतिथ्य-सत्कार किया। जब सब चलने को उद्यत हुए तो विश्वामित्र ने महर्षि वसिष्ठ से कहा– ''महर्षे! यह गौ रत्नरूप है। रत्न लेने का अधिकारी राजा होता है। इस दृष्टि से यह धर्मतः मेरी वस्तु है। अतः इसके बदले कुछ लेकर यह गाय मुझे दे दीजिये।'' महर्षि बोले– ''नरेश्वर! मेरे आश्रम की व्यवस्था इसी से चलती है, अतः इसे मैं कदापि नहीं दूँगा।''

जब महर्षि किसी भी तरह उस गौ को देने को तैयार न हुए, तब विश्वामित्र की आज्ञानुसार सैकड़ों सैनिक उस गौ को घसीटते हुए ले चले। यह देख उन महर्षि ने उस गौ से विश्वामित्र की सेना का संहार करने के लिए

वीर सैनिकों की सृष्टि करने को कहा। गौ ने वीर सैनिकों की सृष्टि कर सारी सेना का संहार कर डाला। इससे विश्वामित्र का सारा उत्साह और पराक्रम नष्ट हो गया। अपने बड़े पुत्र को राजा के पद पर अभिषिक्त कर वे वन में चले गये और तपस्या आरम्भ कर दी।

कुछ काल पश्चात् उनकी तपस्या से प्रसन्न हो भगवान शिव प्रकट हुए और बोले– ''जो वर तुम्हें चाहिये, उसे कहो।'' विश्वामित्र ने कहा– ''महादेव! अगर आप मुझ पर प्रसन्न हों तो मुझे धनुर्वेद प्रदान करें। देवताओं, दानवों, महर्षियों, यक्षों तथा राक्षसों के पास जो-जो अस्त्र हैं, वे सब आपकी कृपा से मेरे हृदय में प्रस्फुटित हो जायँ। यही मेरा मनोरथ है।'' 'एवमस्तु' कहकर भगवान शिव वहाँ से चले गये।

भगवान शिव से अस्त्र पाकर विश्वामित्र को गर्व हो गया। उन्होंने वशिष्ठ के आश्रम पर जाकर आग्नेयास्त्र का संधान किया। इससे महर्षि को क्रोध आ गया और वे ब्रह्मदण्ड हाथ में उठाकर बोले– ''गाधिपुत्र! आज मैं तेरे अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान धूल में मिला दूँगा। तू अपने क्षात्रबल के आगे मेरे ब्रह्मबल को देख ले।'' ऐसा कहते ही आग्नेयास्त्र शान्त हो गया। तब गाधिपुत्र ने क्रोधित हो भाँति-भाँति के अस्त्र महर्षि पर चलाये, परन्तु उन्होंने उन सभी को मात्र ब्रह्मदण्ड से ही नष्ट कर दिया। अब विश्वामित्र पराजित हो गये और बोले–

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

(बा0रा0, बाल0 सर्ग 56/23)

''ब्रह्मतेज का बल ही वास्तविक बल है। क्योंकि आज एक ब्रह्मदण्ड ने मेरे सभी अस्त्र-शस्त्र नष्ट कर दिये। अब मैं अपने मन और इन्द्रियों को निर्मल करके उस महान तप का अनुकरण करूँगा, जो मेरे ब्राह्मणत्व की प्राप्ति का कारण होगा।'' ऐसा कहकर महर्षि वसिष्ठ से बैर बाँधकर वे अपनी पत्नी के साथ वन में चले गये और वहाँ भयंकर तथा उत्कृष्ट तप करने लगे। कुछ

दिनों बाद उनके तीन पुत्र हुए। एक हजार वर्ष बीतने पर देवताओं सहित ब्रह्माजी ने उन्हें दर्शन दिया और बोले– ''कुशिकनन्दन! आपने तपस्या के द्वारा राजर्षियों के लोकों पर विजय प्राप्त कर ली है, अतः हम आपको सच्चा 'राजर्षि' समझते हैं।'' ब्रह्माजी के चले जाने के पश्चात् विश्वामित्र ने विचार किया कि मैंने इतनी तपस्या की, फिर भी ऋषि और देवता मुझे राजर्षि ही समझते हैं। लगता है, मेरी तपस्या का कोई फल नहीं हुआ। अतः वे पुनः तपस्या में रत हो गये।

इसी बीच इक्ष्वाकुवंशीय त्रिशंकु नामक नरेश के मन में सदेह स्वर्ग जाने का विचार आया। उन्होंने अपने इस विचार को अपने गुरु वसिष्ठ के सामने प्रकट किया। वसिष्ठ ने त्रिशंकु से कहा कि ऐसा होना असंभव है। तब वे अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए तपरत वसिष्ठजी के पुत्रों के पास गये और उनसे प्रार्थना की। साथ ही यह भी कहा कि वसिष्ठजी ने तो मुझे जवाब दे दिया है। राजा का वचन सुन वसिष्ठ-पुत्र क्रोधित हो गये और बोले– ''तेरे सत्यवादी गुरु ने जिस बात का निषेध कर दिया, उनकी आज्ञा की अवहेलना कर तू दूसरों के पास क्यों आया है? हम वसिष्ठजी का अपमान नहीं कर सकते।''

राजा ने उनसे कहा– ''आप लोग आनन्द कीजिए, मैं अब किसी अन्य की शरण में जाऊँगा।'' ऋषिपुत्रों ने जब राजा के मुख से ऐसे अपमानजनक शब्द सुनें, तब परम क्रुद्ध हो उन्होंने उन्हें शाप दे दिया कि तू चाण्डाल हो जा।

राजा चाण्डाल-दशा को प्राप्त हो गये। इससे रात-दिन चिन्ताकुल राजा तपस्वी विश्वामित्र के पास गये, उनसे सारी घटना और अपना मनोरथ कह सुनाया। विश्वामित्र बोले– ''राजन्! मैं जानता हूँ कि तू धर्मात्मा है। मैं तुझे अपनी शरण में ले लूँगा। तू मत डर। तू इसी रूप और शरीर से स्वर्ग जायेगा।''

अपनी तपस्या के बल पर उन्होंने राजा त्रिशंकु को स्वर्ग भेज दिया, लेकिन उन्हें देख देवराज इन्द्र ने कहा– ''त्रिशंकु! तू स्वर्ग में रहने योग्य नहीं है, तू पृथ्वी पर जाकर रह।'' इन्द्र के इतना कहते ही त्रिशंकु नीचे पृथ्वी पर गिरने लगे। इससे कुपित हो विश्वामित्र बोले– 'तिष्ठ, तिष्ठ' अर्थात् वहीं ठहर

और स्वयं नयी सृष्टि रचने लगे। इससे ऋषि, देवता आदि घबड़ाकर उनके पास आये और उनसे ऐसा न करने को कहा, लेकिन उन्होंने सभी से कहा– ''महात्माओ! राजा त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजने की जो प्रतिज्ञा मैंने की है, उसे अन्यथा नहीं कर सकता। मेरे द्वारा बनाये गये ग्रह-नक्षत्र तब तक बने रहें, जब तक सब लोक रहें।'' सभी ने उनकी बातों का समर्थन किया। अब वे पुष्कर चले गये और वहाँ तपस्या आरम्भ की।

उन्हीं दिनों अयोध्या नरेश अम्बरीष यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ के पशु को इन्द्र ने चुरा लिया। पुरोहितों ने यज्ञ-पशु के स्थान पर मूल्य देकर किसी पुरुष-पशु को लाने को कहा। पुरुष-पशु की तलाश करते-करते राजा भृगुतुंग पर्वत पर अपने पुत्रों और पत्नीसहित बैठे ऋषि ऋचीक को देखा। उन्होंने उनसे कहा– ''आप एक लाख गौएँ लेकर अपने एक पुत्र को यज्ञ-पशु बनाने के लिए मेरे हाथ बेच देते तो मैं आपका अनुगृहीत रहता।'' उनकी बात सुनकर ऋषि बोले– ''मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को कभी न बेचूँगा।'' ऋषि की बात सुनकर उनकी पत्नी बोली– ''छोटे पुत्र शुनक पर मेरी बड़ी प्रीति है, अतः उसे मैं आपको न दूँगी।'' माता-पिता की बातें सुन मझला पुत्र शुनःशेप ने स्वयं राजा से कहा– ''पिताजी बड़े को बेचना नहीं चाहते और माता छोटे को, अतः मुझ मझले को बेचा हुआ समझ आप मुझे ले चलिये।'' (ऋचीक ऋषि को सत्यवती से क्रमशः जमदग्नि, शुनःशेप और शुनःपुच्छ नामक तीन पुत्रों की प्राप्ति हुई थी।) राजा ऋचीक को एक लाख गौएँ दे, शुनःशेप को रथ पर चढ़ा वहाँ से चल दिये।

जब राजा अम्बरीष विश्वामित्र के भानजे शुनःशेप को खरीदकर ला रहे थे, तब रास्ते में विश्वामित्र के तप-स्थान पर विश्राम करने लगे। वहाँ शुनःशेप तपरत अपने मामा विश्वामित्र से मिला और दीनभाव से उनसे रक्षा करने की प्रार्थना की कि आप मुझ अनाथ के नाथ बनकर इस संकट से रक्षा कीजिये। उन्होंने अपने पुत्रों में से एक को उसके स्थान पर जाने को कहा। उनके इनकार करने पर उन्होंने उन्हें चाण्डाल जाति में जन्म लेने का शाप दे दिया और शुनःशेप को बचा लिया। शाप के कारण फिर तपस्या नष्ट हो गयी।

विश्वामित्र को पुष्कर क्षेत्र में तपस्या करते एक हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर उनकी तपस्या से संतुष्ट हो देवगण उनके पास आये और 'ऋषि' की उपाधि दी। इससे उन्हें संतोष न हुआ, वे पुनः तपस्या में लग गये। एक दिन मेनका नाम की एक अप्सरा स्नान करने की इच्छा से वहाँ आयी। उन्होंने उसे अपने यहाँ शरण दे दी। एक दिन जब उन्हें ज्ञात हुआ कि देवताओं ने मेरी तपस्या को नष्ट करने का महान प्रयास किया है, तब उन्होंने मेनका को मधुर वचनों द्वारा विदा कर दिया और वह स्थान छोड़कर हिमालय में कौशिकी नदी के तट पर काम को जीतने की इच्छा से उग्र तपस्या आरम्भ कर दी।

उनकी तपस्या से सन्तुष्ट हो ब्रह्माजी वहाँ आये और बोले– ''वत्स! मैं तुम्हारी तपस्या से सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हें 'महर्षि' पद प्रदान करता हूँ।'' विश्वामित्र ने कहा– ''भगवन्! यदि आप मुझे 'ब्रह्मर्षि' का अनुपम पद प्रदान कर सकें तो मैं अपने को जितेन्द्रिय समझूँगा।'' ब्रह्माजी बोले– ''आप अभी जितेन्द्रिय नहीं हैं। इसके लिये प्रयत्न करें।''

विश्वामित्र ने पुनः तपस्या आरम्भ की। उनकी उग्र तपस्या से समस्त देवताओं में खलबली मच गयी। उन्हें इस प्रकार तपस्या करते देख इन्द्र ने इस बार रम्भा अप्सरा से उनकी तपस्या में विघ्न डालने को कहा। रम्भा विश्वामित्र के पास पहुँची। वे इन्द्र का कुचक्र समझ गये और क्रोध में रम्भा को पत्थर की प्रतिमा बन जाने का शाप दे दिया। क्रोध के कारण फिर तपस्या का क्षय हो गया।

तदनन्तर विश्वामित्र हिमालय को त्यागकर पूर्व दिशा में तप करने चल दिये। बीच-बीच में उन पर विघ्नों के आक्रमण हुए, लेकिन वे अपनी तपस्या में लगे रहे। उनकी उग्र तपस्या देखकर देवताओं सहित ब्रह्माजी आये और बोले– ''वत्स! तुमने अपनी उग्र तपस्या से ब्राह्मणत्व को अर्जित कर लिया है। मैं तुम्हें दीर्घायु प्रदान करता हूँ।''

पितामह ब्रह्माजी की बात सुनकर विश्वामित्र अति प्रसन्नता से बोले– ''यदि मुझे ब्राह्मणत्व मिल गया है और दीर्घायु की प्राप्ति हो गयी है तो वेद स्वयं आकर हमारा वरण करें और ब्रह्मर्षि वसिष्ठ स्वयं आकर मुझसे ऐसा कहें।''

वेद विश्वामित्र के हृदय में उतर गये। यहाँ वेद का तात्पर्य वेद नामक पुस्तक नहीं, अविदित तत्त्व परमात्मा का विदित हो जाना ही वेद का अवतरित होना है। वसिष्ठ वहाँ आये और विश्वामित्र का ब्रह्मर्षि होना स्वीकार कर लिया एवं गले मिले। इस प्रकार महामनस्वी विश्वामित्र यद्यपि क्षत्रिय थे, तथापि ऋचीक ऋषि ने उनके चरु में परम उत्कृष्ट ब्रह्मतेज का आधान किया था इसलिए वे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होकर भी ब्राह्मणत्व की प्राप्ति कर ब्राह्मण-गोत्रों के प्रवर्तक हुए।

और उधर, समय आने पर सत्यवती ने शान्त स्वभाववाले तपस्वी जमदग्नि को पुत्ररूप में उत्पन्न किया। युवा होने पर जमदग्नि का विवाह इक्ष्वाकु-वंश की कन्या रेणुका से हुआ। ऋचीक ऋषि से सत्यवती ने कहा था कि 'मेरा पौत्र भले ही उग्र स्वभाव का हो जाय, लेकिन मुझे सरल और शान्त स्वभाववाला ही पुत्र चाहिए', तो वह गुण पहुँच गया रेणुका के पास। अतः जमदग्नि की पत्नी रेणुका ने क्षत्रिय-धर्मवाले पुत्र राम को उत्पन्न किया। रेणुका के चार पुत्र पहले से थे। पाँचवें पुत्र राम सबसे छोटे थे। राम ने तपस्या से भगवान शंकर को संतुष्ट कर उनसे अनेक प्रकार के अस्त्र और एक परशु प्राप्त किये। परशु को धारण करने से वे परशुराम कहे जाने लगे।

महाभारत, 3/116 में है कि एक दिन उनकी माता रेणुका स्नान करके लौट रही थी, अकस्मात् उसकी दृष्टि पत्नी के साथ स्नान करते कार्तिकादेश के राजा चित्ररथ पर पड़ी। उस समृद्धशाली नरेश को देखकर उसने उसकी इच्छा की। इस मानसिक विकार से द्रवित उसने आश्रम में प्रवेश किया। ऋषि जमदग्नि उसकी सब बातें जान गये। उसे धैर्य से च्युत और ब्रह्मतेज से वंचित देख धिक्कारा। उसी समय उनके चारों पुत्र आ गये। उन्होंने बारी-बारी से उन सभी को रेणुका का वध करने की आज्ञा दी, परन्तु मातृस्नेह के कारण वे कुछ बोल न सके। अतः महर्षि ने उन सभी को जड़बुद्धि होने का शाप दे दिया।

तदनन्तर परशुराम सबसे पीछे आश्रम पर आये। जमदग्नि ने उनसे भी अपनी माता का वध करने को कहा। उन्होंने फरसा उठाकर तत्क्षण माता का

मस्तक काट डाला। इससे ऋषि ने उनसे वर माँगने को कहा। वे बोले– ''मेरी माता जीवित हो उठें, मैंने गला काटा है, यह भूल जायँ तथा युद्ध में मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं दीर्घायु प्राप्त करूँ।'' ऋषि ने 'तथास्तु' कहा।

महाभारत, 12/49 में है कि उसी समय राजा कृतवीर्य का बलवान पुत्र सहस्त्रार्जुन (जिसे अर्जुन भी कहा जाता है) हैहय वंश का चक्रवर्ती राजा हुआ, जो क्षत्रिय था। भगवान दत्तात्रेय के आशीर्वाद से उसने एक हजार भुजायें प्राप्त की थी। उसके घमण्डी पुत्र एक दिन ऋषि जमदग्नि की होमधेनु के बछड़े को चुरा ले गये। उसी के लिए परशुराम और उसके साथ घोर युद्ध छिड़ गया। क्रोध से भरे परशुराम ने उसकी समस्त भुजाओं को काट डाला और बछड़े को आश्रम में ले आये। अतः उसके पुत्रों ने संगठित हो ऋषि जमदग्नि के आश्रम पर जाकर ऋषि के मस्तक को धड़ से अलग कर दिया। उस समय परशुराम आश्रम में नहीं थे। पिता के मारे जाने से उनके क्रोध की सीमा न रही। उन्होंने इस पृथ्वी को क्षत्रियों से हीन कर देने की भीषण प्रतिज्ञा की और अपने पराक्रम से सहस्त्रार्जुन के सभी पुत्रों तथा पौत्रों के साथ सहस्त्रों हैहयों का वध कर डाला। इस प्रकार पृथ्वी को क्षत्रियों से हीन करके, अत्यन्त दया से द्रवित हो वन में चले गये। (महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अध्याय 29 की कथा में है कि राजा सहस्त्रबाहु अपने पराक्रम को दिखाने के लिए ऋषि जमदग्नि के आश्रम पर परशुराम के पास गया था, अतः उन्होंने उसका वध कर डाला।)

तदनन्तर सहस्त्रों वर्ष बीत जाने पर विश्वामित्र के पौत्र एवं रैभ्य के पुत्र परावसु ने एक सभा में परशुराम पर आक्षेप करते हुए कहा– ''राम! तुम सबसे व्यर्थ की डींग हाँकते हो कि मैंने क्षत्रियों का अन्त कर दिया। तुम्हारी प्रतिज्ञा झूठी है। मेरी समझ से तो तुमने क्षत्रियों के भय से ही पर्वत की शरण ली है। इस समय पृथ्वी पुनः क्षत्रियों से भर गयी है।''

परावसु की बातें सुनकर परशुराम ने पुनः शस्त्र उठा लिया। जिन क्षत्रियों को उन्होंने छोड़ दिया था, वे सब महापराक्रमी राजा बन बैठे थे।

उन्होंने उन सबके छोटे-छोटे बच्चों तक को शीघ्र मार डाला। जो बच्चे गर्भ में रह गये थे, उन्हीं से पुनः सारी पृथ्वी व्याप्त हो गयी। परशुराम एक-एक गर्भ के उत्पन्न होने पर पुनः उसका वध कर डालते थे। उस समय क्षत्राणियाँ कुछ ही पुत्रों को बचा सकी थीं। महाभारत आदिपर्व (64/7) में तो है कि सहस्त्रों क्षत्राणियों ने ब्राह्मणों से गर्भ धारण किया और क्षत्रियों को जन्म दिया। महाभारत आश्वमेधिक पर्व (अध्याय 29/17) में भी है कि क्षत्रिय वीरों के मारे जाने पर ब्राह्मणों ने उनकी स्त्रियों से नियोग की विधि के अनुसार पुत्र उत्पन्न किये।

इस प्रकार परशुराम ने इस पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियों से हीन करके एक यज्ञ किया और उसकी समाप्ति पर दक्षिणा के रूप में यह सारी पृथ्वी महर्षि कश्यप को दे दी। तदनन्तर कुछ क्षत्रियों को बचाये रखने की इच्छा से कश्यपजी ने स्रुक् (यज्ञ करने का चमचा) लिये हुए हाथ से यह बात कही– ''महामुने! अब तुम दक्षिण समुद्र के तट पर चले जाओ। अब फिर कभी मेरे राज्य में निवास न करना।'' यह सुनकर परशुराम चले गये। कश्यप ने पृथ्वी को दान में लेकर उसे ब्राह्मणों के अधीन कर दिया और स्वयं विशाल वन के भीतर चले गये।

पृथ्वी ब्राह्मणों के अधीन हो जाने से जीव-जगत् में अराजकता फैल गयी, दुरात्मा अपने अत्याचारों से पृथ्वी को पीड़ित करने लगे। इस उलटफेर से पृथ्वी रसातल में प्रवेश करने लगी क्योंकि उस समय धर्मरक्षक क्षत्रियों द्वारा विधिपूर्वक पृथ्वी की रक्षा नहीं की जा रही थी। भय के मारे पृथ्वी को रसातल की ओर भागते देख कश्यप ने अपने उरुओं का सहारा देकर उसे रोक दिया।

पृथ्वी ने कश्यप से कहा– ''मुझे भूपाल दीजिये। मैंने हैहय-कुल के कई क्षत्रिय शिरोमणियों को स्त्रियों में छिपा रखा है जो मेरी रक्षा कर सकते हैं। उनके सिवाय ऋक्षवान पर्वत पर रीछों द्वारा पाला गया पूरुवंशी विदूरथ का पुत्र भी जीवित है। इसी प्रकार महर्षि पराशर ने दयावश सौदास के पुत्र सर्वकर्मा की जान बचायी है। राजा शिवि का गोपति नामक पुत्र तथा प्रतर्दन का महाबली पुत्र वत्स भी जीवित है। दधिवाहन का पौत्र और दिविरथ का

पुत्र भी महर्षि गौतम द्वारा सुरक्षित है। महातेजस्वी महाभाग बृहद्रथ महान् ऐश्वर्य से सम्पन्न है, उसे गृधकूट पर्वत पर लंगूरों ने बचाया था। राजा मरुत्त के वंश के भी कई क्षत्रिय बालक सुरक्षित हैं, जिनकी रक्षा समुद्र ने की है। ये सभी अपना कर्म भूलकर सुनार तथा शिल्पी आदि जातियों के आश्रित होकर रहते हैं। यदि ये क्षत्रिय मेरी रक्षा करें तो मैं अविचल भाव से स्थिर हो सकूँगी। इन बेचारों के बाप-दादे मेरे ही लिये युद्ध में अनायास ही परशुराम द्वारा मारे गये हैं। मुझे उनके इन वंशजों का सत्कार करना चाहिये।'' पृथ्वी द्वारा बताये गये उन सभी पराक्रमी क्षत्रिय भूपालों को बुलाकर कश्यपजी ने उनका भिन्न-भिन्न राज्यों पर अभिषेक कर दिया। उन्हीं के पुत्र-पौत्र बढ़े जिससे क्षत्रिय-वंश पुनः प्रतिष्ठित हुआ।

त्रेतायुग में भगवान राम का प्रादुर्भाव हुआ। राजा जनक की यज्ञशाला में शिव-धनुष रखा था। एक दिन राजा जनक की पुत्री सीता सफाई कर रही थीं। उन्होंने एक हाथ से शिव के भारी धनुष को उठाकर उसके नीचे लीप-पोत दिया। जब राजा जनक की निगाह पड़ी तो उन्होंने सोचा– हमारी कन्या में इतनी क्षमता है कि जिस धनुष को हजारों लोग मिलकर भी नहीं उठा पाते, उसे हमारी पुत्री ने एक हाथ से उठा दिया। रामचरितमानस, बालकाण्ड में है कि उन्होंने धनुष-यज्ञ का आयोजन किया और प्रतिज्ञा की कि जो धनुष को तोड़ देगा, उसी से अपनी कन्या सीता का विवाह करूँगा।

उनकी प्रतिज्ञा सुनकर बड़े-बड़े प्रतापी राजा जनकपुर की यज्ञशाला में पधारे। एक-एक कर सभी ने धनुष को उठाने का प्रयास किया, लेकिन सफल न हुए। अन्ततः वहाँ उपस्थित दस हजार राजाओं ने एक साथ उठाने का प्रयास किया, लेकिन–

परिकर बांधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिर नाई॥
भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥

दस हजार महाबली राजा और उनके दस हजार इष्टदेव (सुरेश, महेश, गणेश, देवी-भवानी, काली-गौरी इत्यादि जो भी रहे हों), मिलकर हो गये बीस हजार, सब मिलकर भी धनुष को नहीं हिला पाये।

यह देखकर राजा जनक का धैर्य जाता रहा कि मेरी कन्या सीता का विवाह लिखा ही नहीं। उन्होंने सोचा कि यदि प्रण छोड़ता हूँ तो पुण्य जाता है, अतः क्या करूँ? कन्या कुँवारी ही रहे।

उसी यज्ञशाला में अपने गुरु विश्वामित्रजी के साथ राम और लक्ष्मण भी उपस्थित थे। विश्वामित्र जी ने राजा जनक की आँखों में आँसू, उनका दुःख और उनके हृदय में जलन को देखा। वे राम का प्रत्यक्ष प्रमाण पा चुके थे। उनके प्रभाव से ताड़का और अहिल्या को धाम जाते देखा था। अतः उन्होंने कहा–

उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा।।

हे राम! राजा जनक का हृदय जल रहा है। उठो, शिवजी का धनुष तोड़ो और उनका सन्ताप मिटा दो।

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरिषु बिषादु न कछु उर आवा।।

यह सुनकर राम ने गुरु के चरणों में सिर नवाया। उनके मन में न हर्ष हुआ न विषाद। (यह हर्ष नहीं कि जिसके पीछे हजारों राजा उठक-बैठक लगा रहे हैं, वह सीता मिल जायेगी। धनुष नहीं टूटेगा, इसका विषाद नहीं।)

गुरहि प्रनामु मनहि मन कीन्हा। अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा।।
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़े।।

उन्होंने भी अपने इष्टदेव को पुकारा। राम के इष्टदेव थे सद्गुरु, उन्होंने सद्गुरु को प्रणाम किया। उन्होंने धनुष को कब उठाया, प्रत्यंचा कब चढ़ायी और कब खींचा, इसका किसी को पता न चला और धनुष टूट गया। सीता का दुःख दूर हो गया, राजा जनक का कलेजा ठण्डा हो गया। सीता की जयमाला राम के गले में पड़ गयी।

धनुष टूटने की ध्वनि सुनकर महेन्द्र पर्वत पर रहनेवाले परशुरामजी वहाँ आ धमके। वहाँ जो हजारों राजा बैठे थे, उनका भयानक वेष देखकर काँप उठे। पितासहित अपना नाम ले-लेकर दण्डवत्-प्रणाम करने लगे। परशुराम जी को टूटे हुए धनुष के टुकड़े पृथ्वी पर दिखायी दिये, अतः

अत्यन्त क्रोध भरे कठोर वचन में उन्होंने राजा जनक से पूछा– ''बता, धनुष किसने तोड़ा?'' और फरसा तानकर ललकारने लगे, राजाओं के वध की धमकी देने लगे। अब कौन बताये कि धनुष किसने तोड़ा?, तब श्रीरामजी बोले–

नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥

हे नाथ! शिवजी के धनुष को तोड़नेवाला आपका कोई एक दास ही होगा।

यह सुनकर परशुराम क्रोधित हो उठे और रिसियाकर बोले– ''सेवक वह है जो सेवा-कार्य करे। शत्रु का काम करके तो लड़ाई ही करनी चाहिए। हे राम! सुनो, जिसने शिव-धनुष को तोड़ा है, वह सहस्त्रबाहु के समान मेरा शत्रु है। वह इस समाज को छोड़कर अलग हो जाय, नहीं तो सभी राजा मेरे द्वारा मारे जायेंगे।

यह सुनकर लक्ष्मणजी मुस्कराये और परशुरामजी का अपमान करते हुए बोले–

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥

(धनुही का मतलब बाँस आदि से बने सामान्य धनुष) बचपन में हमने बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ीं, तब तो आपने ऐसा क्रोध कभी नहीं किया (यह पुराना शिव-धनुष तोड़ दिया तो हल्ला मचा रहे हैं आप।), इस धनुष पर ममता किस कारण से है?

यह सुन परशुरामजी क्रोधित होकर बोले–

रे नृप बालक कालबस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम तिपुरारि धनु, बिदित सकल संसार॥

अरे राजपुत्र! तू काल के वश में होने से सँभालकर नहीं बोलता। संसार में विख्यात यह शिवजी का धनुष क्या धनुही के समान है?

लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा– ''हमलोग बालक हैं, हम बालकों के लिए सभी धनुष बराबर हैं। पुराने धनुष के तोड़ने में क्या हानि है, क्या लाभ है?–

यह हम नहीं जानते। यह तो छूते ही टूट गया, इसमें राम का कोई दोष नहीं है।''

तब परशुरामजी लक्ष्मण को फरसा दिखाकर धमकाने लगे। लक्ष्मणजी हँसकर मृदुवाणी में बोले–

पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू।।
इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं।।

''हे मुनिश्रेष्ठ! आप अपने को भारी योद्धा समझकर बार-बार मुझे कुठार दिखाते हैं। आप फूँक से पहाड़ उड़ाना चाहते हैं। हम कोई कुम्हड़ की बतिया नहीं हैं जो तर्जनी उँगली देखते ही मर जाती है। आपको कुठार और धनुष-बाण धारण किये हुए देखकर ही मैंने कुछ अभिमानपूर्वक कहा था। आपको भृगुवंशी समझकर और जनेऊ धारण किये हुए देखकर आप जो कहते हैं, मैं सह लेता हूँ। इक्ष्वाकुकुल देवता, ब्राह्मण, ईश्वर के भक्तों पर अपनी वीरता नहीं दिखाता। क्योंकि इन्हें मारने से पाप और इनसे हार जाने पर अपकीर्ति होती है। इसलिये आप मारें तो भी आपके पैर ही पड़ना चाहिए।''

यह सुनकर परशुरामजी ऋषि विश्वामित्र से बोले– ''हे विश्वामित्र! यह बालक बड़ा कुबुद्धि और कुटिल है। यह काल के वश होकर निज कुल का घातक बन रहा है। यह क्षण भर में काल का ग्रास हो जायेगा। मैं पुकार कर कहता हूँ, इसमें मेरा कोई दोष न देना।''

यह सुनकर लक्ष्मणजी बोले–

लखन कहेउ मुनि सुजसु तुम्हारा। तुम्हहि अछत को बरनै पारा।।
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भांति बहु बरनी।।

हे मुनि! आपका सुयश आपके सिवा दूसरा कौन वर्णन कर सकता है? आप अपने पराक्रम को बार-बार कह रहे हैं। (मेरी समझ से तो कोई पराक्रम आज तक आपने किया ही नहीं। अपनी ही माता को मारा, अपने मौसा सहस्त्रार्जुन और उनके लड़के को मारा, यही आपके पराक्रम हैं।)

मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े॥

हे द्विज देवता! आप घर में ही बड़े हैं। कभी गाढ़ा सुभट तो आपको रण में मिला ही नहीं।

यह सुनकर वहाँ उपस्थित सभी ने 'यह अनुचित है, अनुचित है' ऐसा कहा। तब श्रीराम ने लक्ष्मण को इशारे से रोक दिया और परशुरामजी से बोले–

बररै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहि न सन्त बिदूषहिं काऊ॥

"हे नाथ! बर्रै और बालक का स्वभाव एक-जैसा होता है। यह बालक है। सन्तजन इन्हें कभी दोष नहीं देते। लक्ष्मण ने कुछ भी काम नहीं बिगाड़ा है। आपका अपराधी तो मैं हूँ। जिस प्रकार से शीघ्र आपका क्रोध दूर हो, वह उपाय कहिये।"

अब परशुरामजी हृदय से क्रोधित हो रामजी से बोले– "अरे शठ! तू शिवजी का धनुष तोड़कर उल्टा हमीं को ज्ञान सिखाता है। तेरा यह भाई तेरे ही इशारे से कटु बोलता है और तू छल से हाथ जोड़कर विनय करता है।"

बाल्मीकि रामायण में है कि परशुरामजी एक दिव्य धनुष और बाण लिये हुए थे, उसे भगवान राम को देते हुए बोले– "इस उत्तम धनुष को क्षत्रिय-धर्म में स्थित हो लीजिए और इस पर बाण चढ़ाइये। यदि इस पर बाण चढ़ा सके तो मैं आपके साथ द्वन्द्वयुद्ध करूँगा।"

परशुराम की आक्षेपपूर्ण बातों को सुनकर भगवान राम बोले– "हे भार्गव! आप जो कर्म किये हैं, मैं जानता हूँ। आप जो यह समझते हैं कि मैं पराक्रमहीन हूँ, मुझमें क्षात्रधर्म का अभाव है, आप जो मेरे तेज का निरादर करते हैं तो आज मेरे पराक्रम को देखें।"

यह कहकर क्रोध में भरकर भगवान राम ने परशुरामजी के हाथ से धनुष-वाण ले लिया और धनुष पर प्रत्यंचा एवं वाण चढ़ा यह बोले– "हे परशुरामजी! एक तो ब्राह्मण होने के कारण आप मेरे पूज्य है, दूसरे विश्वामित्रजी के नातेदार (उनकी बहन सत्यवती के पौत्र) हैं। अतः इस वाण

को आपके ऊपर छोड़कर आपका प्राण लेना मैं नहीं चाहता। किन्तु इस वाण से या तो आपकी गति को (परशुरामजी में मन के बराबर चलने की गति थी), अथवा तपस्या द्वारा अर्जित आपके लोकों को मैं नष्ट अवश्य कर दूँगा। क्योंकि यह वैष्णव नामक दिव्य वाण अपनी शक्ति से शत्रु के बल और अभिमान को नष्ट करनेवाला है। यह अमोघ है अर्थात् बिना कुछ किये तरकश में नहीं जाता।''

श्रीरामचन्द्र द्वारा उस दिव्य धनुष को हाथ में लेने से परशुरामजी जड़ के समान वीर्यहीन (तेजहीन) हो गये। वे भगवान राम से मन्द स्वर में बोले– ''हे राघव! जब यज्ञान्त में मैंने सारी पृथ्वी महात्मा कश्यप को दान में दे दी, तब उन्होंने मुझसे कहा कि आज से तुम हमारी भूमि या हमारे राज्य में निवास न करना। मैं उनकी आज्ञा मान रात में पृथ्वी पर नहीं रहता। अतः आप हमारी सर्वत्र की गति (लोकों में आने-जाने की शक्ति) को नष्ट न करें। मेरी मन के बराबर चलने की गति बनी रहे, जिससे मैं महेन्द्र पर्वत पर पहुँच जाया करूँ। अतः हे राम! मैंने तप के द्वारा जो लोक जीत रखे हैं, उनका इस विशेष वाण से हनन कीजिए। अब बिलम्ब न कीजिए।'' वे भगवान राम की स्तुति (समर्थन) करने लगे–

अक्षयं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरोत्तमम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परन्तप॥

(बा.रामा., बाल.सर्ग 76/17)

हे परन्तप! आपके द्वारा इस धनुष को ग्रहण किये जाने से मैं अच्छी तरह जान गया कि आप अविनाशी हैं, मधु दैत्य को मारनेवाले हैं और 'सुरोत्तम'– देवताओं में उत्तम अर्थात् विष्णु हैं। आपकी जय हो।

न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुर्महति।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः॥

(बा0रा0, बाल0 सर्ग 76/19)

हे काकुत्स्थ! आप तीनों लोकों के स्वामी हैं, अतः यदि मैं आपसे हार भी गया तो मुझे लज्जा नहीं है। अब आप इस अद्वितीय वाण को छोड़िये।

जब परशुरामजी ने भगवान राम से इस प्रकार कहा, तब उन्होंने उस उत्तम वाण को छोड़ दिया। वाण से तप द्वारा इकट्ठे किये हुए लोकों को नष्ट हुआ देख परशुरामजी भगवान राम की प्रशंसा तथा उनकी परिक्रमा कर तुरन्त महेन्द्राचल पर चले गये।

महाभारत 3/99 में है कि भगवान राम के द्वारा तेजोहत होने के पश्चात् परशुरामजी महेन्द्र पर्वत पर भयभीत और लज्जित होकर रहने लगे। तदनन्तर एक वर्ष व्यतीत होने पर तेजोहीन और अभिमानशून्य होकर रहनेवाले परशुरामजी को दुःखी देखकर उनके पितरों ने कहा– ''तुमने भगवान राम (विष्णु) के पास जाकर जो बर्ताव किया है, वह अनुचित था। वे तीनों लोकों में सर्वदा पूजनीय और माननीय हैं। बेटा! तुम वधूसर नामक नदी के तट पर जाओ। वहाँ तीर्थों में स्नान करके अपना तेजोमय शरीर पुनः प्राप्त कर लोगे। वहाँ दीप्तोदक नामक तीर्थ (ब्रह्मलीन, ब्रह्मवेत्ता महापुरुष महर्षि भृगु-सेवित तीर्थ है जहाँ खोई हुई दीप्ती जाग्रत हो जाती है।) है, जहाँ तुम्हारे प्रपितामह भृगु ने उत्तम तपस्या की थी।''

पितरों के कथनानुसार परशुरामजी ने उस तीर्थ में स्नान कर भगवान् राम द्वारा अपहृत तेज को पुनः प्राप्त कर लिया। परशुराम उसी के अधिकारी थे। वहाँ जाने पर उन्हें ब्रह्मतत्त्व प्राप्त हुआ। उसके बाद उन्होंने किसी को नहीं मारा। (महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, अ0 30 में है कि पितरों के कहने पर परशुरामजी ने तपस्या की और दुर्गम सिद्धि प्राप्त की।)

त्रेता और द्वापर के संधिकाल में, भगवान राम के शासनकाल की अवधि में ग्यारह हजार वर्षों तक फिर परशुरामजी का कोई पराक्रम सुनने को नहीं मिला। द्वापर और कलि के सन्धिकाल में क्षत्रियों से बैर बाँध बैठे परशुरामजी धनुर्विद्या के आचार्य बनकर पढ़ाने लगे। उसी दौरान एक घटना घट गयी, जिसका कथानक इस प्रकार है–

महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय 173 से 186 तक की कथा में है कि परशुरामजी के शिष्य पितामह भीष्म काशिराज की तीन कन्याओं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका का हरण कर हस्तिनापुर ले आये और अपने भाई

विचित्रवीर्य से ब्याहने के लिए अपनी माता सत्यवती को दे दी। जब विवाह-कार्य उपस्थित हुआ तो काशिराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा ने कहा कि उसने पहले ही राजा शाल्व का वरण कर लिया है। यह सुन भीष्म ने उसे जाने की अनुमति दे दी। अब अम्बा राजा शाल्व के पास पहुँची और उनसे विवाह का प्रस्ताव रखा। राजा शाल्व ने कहा– ''तुम पहले दूसरे की हो चुकी हो, अतः तुझ-जैसी स्त्री के साथ विवाह करने की मेरी इच्छा नहीं है। तुम पुनः उन्हीं भीष्म के पास जाओ, क्योंकि उन्होंने तुम्हें बलपूर्वक पकड़ लिया था।''

शाल्वराज के ऐसा कहने पर भीष्म को सबक सिखाने के उद्देश्य से वह अपने नाना होत्रवाहन के माध्यम से परशुरामजी के पास पहुँची और उनसे सारा वृत्तान्त बता दिया। उसकी बातों को सुनकर परशुरामजी ने कहा– ''मैं तुम्हें भीष्म के पास भेजूँगा। अगर उसने मेरी बात न मानी तो मैं युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों के तेज से उसे भस्म कर दूँगा; अथवा वहाँ जाने का विचार न हो तो मैं राजा शाल्व से तेरा विवाह करा दूँगा। तुम इनमें से एक को चुन लो।''

अम्बा ने कहा– ''आप भीष्म को ही मार डालिये, जिसके कारण मुझे ऐसा दुःख हुआ है। आप मेरी इस कामना को पूर्ण कीजिये।''

परशुरामजी ने रो-रोकर बार-बार ऐसी प्रेरणा देनेवाली अम्बा से कहा–

काश्येन कामं गृह्णामि शस्त्रं वै वरवर्णिनी।
ऋते ब्रह्मविदां हेतोः किमन्यत् करवाणि ते।।

(महाभारत, उद्योग., 178/2)

''मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार किसी वेदवेत्ता ब्राह्मण को आवश्यकता हो तो उसी के लिये शस्त्र उठाता हूँ। वैसा कारण हुए बिना मैं हथियार नहीं उठाता।''

यह सुनकर अम्बा ने कहा– ''भगवन्! यह दुःख भीष्म ने पैदा किया है, अतः आप उसी का वध कीजिये। आपने जो प्रतिज्ञा कर रखी है, उसे भी सत्य कीजिये।''

परशुरामजी और अम्बा में जब यह बातें हो रही थीं, उसी समय परशुरामजी के सखा अकृतव्रण ने कहा– ''महाबाहो! यह कन्या आपकी

शरण में आयी है, अतः आपको इसका त्याग नहीं करना चाहिये। यदि युद्धभूमि में आपके बुलाने पर भीष्म सामने आकर अपनी पराजय स्वीकार करें या आपकी बात मान लें तो इस कन्या का कार्य सिद्ध हो जायेगा।''

अकृतव्रण के ऐसा कहने पर परशुरामजी ऋषियों और अम्बा के साथ कुरुक्षेत्र में आये। एक स्थान पर ठहरकर उन्होंने भीष्म को संदेश भिजवाया, ''राजन्! मैं आया हूँ, तुम मेरा प्रिय कार्य करो।''

अपने गुरु परशुराम को अपने राज्य की सीमा पर आया हुआ सुनकर भीष्म प्रसन्नता के साथ वहाँ गये। एक गौ को आगे करके ब्राह्मणों से घिरे हुए वे गुरु की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने उनकी पूजा स्वीकार की और बोले– ''भीष्म! तुमने इस कन्या को स्पर्श से धर्मभ्रष्ट कर दिया है, ऐसी दशा में इसे कौन ग्रहण कर सकता है? तुम इसे हरकर लाये थे, अतः शाल्वराज ने इसके साथ विवाह करने से इनकार कर दिया है। तुम मेरी आज्ञा से इसे ग्रहण करो।''

भीष्म बोले– ''ब्रह्मन्! इसने पहले मुझसे ही आकर कहा कि मैं शाल्व नरेश की हूँ, तब मैंने इसे जाने की आज्ञा दे दी और यह शाल्व नगर को चली गयी। मैं भय से, दया से, धन से, लोभ से और किसी कामना से भी क्षत्रिय-धर्म का त्याग नहीं करूँगा, यह मेरा व्रत है।''

यह सुनकर परशुरामजी रोषपूर्वक भीष्म से बोले– ''राजन्! यदि तुम मेरी बात नहीं मानोगे तो आज मैं तुम्हें मंत्रियोंसहित मार डालूँगा।''

भीष्म ने कहा– ''भगवन्! क्या कारण है कि आप मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं? मैं तो आपका शिष्य हूँ।''

यह सुनकर परशुरामजी का क्रोध और बढ़ गया। वे बोले– ''तुम मुझे अपना गुरु समझते हो, परन्तु मेरे कहने से इसे ग्रहण नहीं कर रहे हो। तुम्हारे द्वारा अपनी मर्यादा से गिर जाने के कारण इसे पति की प्राप्ति नहीं हो रही है।''

भीष्म ने कहा– ''ब्रह्मर्षे! अब ऐसी बात नहीं हो सकती। आप मेरे गुरु हैं, ऐसा समझकर ही मैंने प्रेमपूर्वक आपका सम्मान किया है। आप गुरु हैं, परन्तु गुरु का-सा बर्ताव नहीं जानते। अतः मैं आप से युद्ध करूँगा।''

अन्त में भीष्म और परशुराम रथ पर सवार होकर कुरुक्षेत्र में पहुँचकर एक-दूसरे को पराक्रम दिखाने को उद्यत हो गये। गुरु का समादर करने के लिए भीष्म रथ से उतरकर पैदल ही उनके पास गये और विधिपूर्वक प्रणाम कर विजय का आशीर्वाद माँगा। तब परशुरामजी ने कहा– ''राजन्! यदि तुम मेरे समीप न आते तो मैं तुमको शाप दे देता। मैं तुम्हें विजयसूचक आशीर्वाद नहीं दे सकता, क्योंकि इस समय मैं तुम्हें पराजित करने के लिए खड़ा हूँ। जाओ, धर्मपूर्वक युद्ध करो।''

गुरु और शिष्य में भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। दोनों तरफ से तरह-तरह के अस्त्रों का संचालन हुआ। कुल तेईस दिन तक युद्ध चला। चौबीसवें दिन जब भीष्म प्रस्वापनास्त्र का संधान करने को उद्यत हुए, तब नारद जी ने भीष्म को इस अस्त्र का प्रयोग करने से मना कर दिया और बोले-

रामतपस्वी ब्रह्मण्यो ब्राह्मणश्च गुरुश्च ते।
तस्यावमानं कौरव्य मा स्म कार्षीकर्थचन॥

(महा0, उद्योग0, अ0 185/4)

''भीष्म! परशुरामजी तपस्वी, ब्राह्मणभक्त, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण और तुम्हारे गुरु हैं। तुम किसी भी तरह उनका अपमान न करो।''

वसुओं ने आकर कहा– ''भरतश्रेष्ठ! नारदजी जैसा कहते हैं, वैसा करो। यही सम्पूर्ण जगत् के लिए परम कल्याणकारी होगा।''

यह सुनकर भीष्म ने उस प्रस्वापनास्त्र को धनुष से उतार लिया। यह देखकर परशुरामजी बड़े प्रसन्न हुए। उनके मुख से सहसा यह वाक्य निकल पड़ा– **'जितोऽस्मि भीष्मेण सुमन्दबुद्धिरित्येव वाक्यं सहसा व्यमुंचत।' (महाभारत, उद्योग0, अ0 185/8)** अर्थात् मुझ मन्दबुद्धि को भीष्म ने जीत लिया।

इसके बाद परशुरामजी के जमदग्नि आदि पितरों ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा– ''बेटा! फिर कभी किसी प्रकार भी ऐसा साहस न करना। क्षत्रिय का तो युद्ध करना धर्म है, किन्तु ब्राह्मणों के लिए वेदों का स्वाध्याय तथा उत्तम व्रतों का पालन ही धर्म है। हम तुम्हारे गुरुजन, आदरणीय पितर हैं,

इसलिये तुम्हें रोक रहे हैं। भीष्म आठ वसुओं में से एक वसु हैं। तुम अपना सौभाग्य समझो कि उनके साथ युद्ध करके अब तक जीवित हो।'' यह कहकर उन्होंने उनसे अस्त्र-शस्त्र रखवा दिये।

परशुरामजी ने अम्बा से दीनतापूर्ण वाणी में कहा– ''भाविनी! यह लोगों ने प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने तुम्हारे लिए पूरी शक्ति लगाकर युद्ध किया और अपना पुरुषार्थ दिखाया। मेरी अधिक-से-अधिक शक्ति और बल इतना ही है। अब तेरी जहाँ इच्छा हो, चली जा।'' यह सुनकर वह भीष्म के वध के उपाय का चिन्तन करती हुई तपस्या का दृढ़ संकल्प लेकर चली गयी। इधर परशुरामजी भी महेन्द्र गिरि पर चले गये।

भीष्म से पराजित होने के पश्चात् परशुरामजी ने फिर कभी किसी क्षत्रिय को धनुर्विद्या नहीं सिखायी। वे केवल ब्राह्मणों को ही धनुर्विद्या की शिक्षा देने लगे। कर्ण धोखे से पहुँच गया। पहले उसने परशुरामजी के शिष्य द्रोण से निवेदन किया। ऋषि भरद्वाज के पुत्र द्रोण भी एक ब्राह्मण थे। महाभारत आदिपर्व, अध्याय 130-131 में है कि उनकी पत्नी का नाम कृपी था। उन्हें अश्वत्थामा नामक एक पुत्र था। एक बार की बात है, ऋषिकुमारों को गाय का दूध पीता देख अश्वत्थामा भी बालस्वभाववश दूध पीने के लिए मचल उठा और रोने लगा। यह देख उसकी माता कृपी ने उसके मुख पर पिष्टोदक अर्थात् पीसे हुए चावल का लेप लगा दिया (पिला दिया), ताकि वह अन्य ऋषिकुमारों से कह सके कि उसने भी दूध पिया है। वह खेलने लगा और ऋषिकुमारों को अपना मुँह दिखा–दिखाकर कहने लगा– ''देखो, मैंने दूध पी लिया।'' यह देखकर कुछ लोग कहने लगे कि इस द्रोण को धिक्कार है जो धन का उपार्जन नहीं करता, जिसका बालक दूध की लालसा से चावल का जल पीकर आनन्दमग्न हो यह कहता हुआ नाच रहा है कि 'मैंने दूध पी लिया।' इसे सुनकर द्रोण के मन में बड़ा क्षोभ हुआ। वे पंचाल नरेश द्रुपद से अपनी मैत्री का स्मरण करके, एक गौ-प्राप्ति की कामना से अपने पुत्र अश्वत्थामा एवं पत्नी कृपी के साथ उनके पास गये और बोले– ''राजन्! अपने मित्र को पहचानो तो सही।'', वे राजा द्रुपद से मित्र की भाँति मिले,

परन्तु उन्होंने उनका उपहास करते हुए कहा– ''तुम्हारी बुद्धि असंगत और अशुद्ध है, तभी तो मुझसे यह कहने की धृष्टता कर रहे हो कि 'राजन्! मैं तुम्हारा मित्र हूँ।' पहले तुम्हारे साथ जो मेरी मित्रता थी, वह शक्ति और सामर्थ्य को लेकर थी। उस समय हमारी शक्ति समान थी, किन्तु अब वैसी बात नहीं है। सब बातों में समानता होने से ही मित्रता होती है। हम दोनों एक-दूसरे के मित्र थे, इस बात को हृदय से निकाल दो। अगर तुम्हारी इच्छा है तो मैं तुम्हें एक रात का भोजन दे सकता हूँ।''

ऐसी बातें सुनकर द्रोण क्रोध से जल उठे और द्रुपद से बदला लेने का निश्चय करके हस्तिनापुर चले गये। उन्होंने अपने आपको छिपाये रखकर कुछ काल तक वहाँ निवास किया। तदनन्तर एक दिन हस्तिनापुर के सभी कौरव-पाण्डव राजकुमार बड़ी प्रसन्नता के साथ गेंद (महाभारत के अनुसार वीटया अर्थात् गुल्ली-डण्डा) खेलने लगे। उस समय खेल में लगे हुए उन राजकुमारों की गेंद कुएँ में गिर गयी। उन्होंने उसे निकालने का प्रयास किया, लेकिन उन्हें सफलता न मिली। अतः वे पास में ही बैठे द्रोण के पास गये। उन्होंने वाणों की सहायता से उस गेंद को कुएँ से बाहर निकाल दिया।

राजकुमारों ने यह बात पितामह भीष्म से बतायी। भीष्म समझ गये कि वह आचार्य द्रोण ही हो सकते हैं। वे आकर उन्हें ले गये और हस्तिनापुर के राजकुमारों का गुरु बना दिया। द्रोणाचार्य उन्हें अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देने लगे। एक दिन पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र के पुत्रों को अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण देख तथा गुरु-दक्षिणा का समय आया जान द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा– ''शिष्यो! पंचालराज द्रुपद को कैद करके मेरे पास ले आओ। यही मेरे लिए सर्वोत्तम गुरु-दक्षिणा होगी।''

सभी शिष्यों ने रथों में बैठकर दक्षिणा चुकाने के उद्देश्य से आचार्य द्रोण के ही साथ वहाँ से प्रस्थान किया। तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, युयुत्सु, दुःशासन, विकर्ण आदि तथा बहुत से पराक्रमी राजकुमार 'पहले मैं युद्ध करूँगा'-इस प्रकार कहते हुए पंचाल देश में पहुँचे। राजा द्रुपद को जीतना कठिन था। उनके वाणों से कर्ण के सम्पूर्ण अंग क्षत-विक्षत हो गये, वह रथ

से कूदकर भाग चला। कौरव सैनिक भी चीखते-चिल्लाते और कराहते हुए पाण्डवों की तरफ भाग चले।

कौरव तथा अन्य राजकुमारों को अपने बल और पराक्रम का घमण्ड था, अतः अर्जुन ने पहले से ही अच्छी तरह सलाह करके द्रोण से कहा था– ''उनके पराक्रम दिखाने के बाद हम युद्ध करेंगे। हमारा विश्वास है कि ये लोग पंचालराज को बन्दी नहीं बना सकते।'' यह कहकर अर्जुन अपने भाइयों के साथ नगर के बाहर ही आधा कोस की दूरी पर ठहर गये थे। वे आचार्य द्रोण को प्रणाम करके अपने रथों पर जा बैठे। केवल अर्जुन और भीम ने अपना-अपना पराक्रम दिखाकर गुरु-दक्षिणा के रूप में राजा द्रुपद को बन्दी बनाकर गुरु द्रोण के चरणों में सौंप दिया। द्रोणाचार्य ने मन-ही-मन पिछले बैर का स्मरण करके राजा द्रुपद से कहा– ''राजन्! तुम बचपन में मेरे साथ आश्रम में खेले-कूदे हो, अतः तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह और बढ़ गया है। मैं तुमसे पुनः मैत्री की प्रार्थना करता हूँ। गंगा के दक्षिण प्रदेश के तुम राजा हो और उत्तर के भू-भाग का राजा मैं हूँ। अब यदि उचित समझो तो मुझे अपना मित्र मानो।''

द्रुपद बोले– ''ब्रह्मन्! आप-जैसे पराक्रमी महात्माओं में ऐसी उदारता का होना आश्चर्य की बात नहीं है। मैं आपसे सदा बनी रहनेवाली मैत्री और प्रेम चाहता हूँ।'' द्रुपद के ऐसा कहने पर द्रोणाचार्य ने उन्हें छोड़ दिया।

महाभारत, 1/166 में है कि राजा द्रुपद का जो महान् अपमान हुआ, वह दो घड़ी भी उनके हृदय से निकल नहीं पाया। वे द्रोण के वध के लिये एक श्रेष्ठ पुत्र चाहते थे। अतः उन्होंने ऋषियों की सहायता से यज्ञ किया, जिससे उन्हें जुड़वा सन्तानें एक पुत्र और एक कन्या की प्राप्ति हुई। कन्या के प्रकट होने पर आकाशवाणी हुई– 'इस कन्या का नाम कृष्णा है। यह क्षत्रियों का संहार करने के लिये प्रकट हुई है।' वह पांचाली (द्रौपदी) नाम से प्रसिद्ध हुई। पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न रखा। महाभारत-युद्ध में इसी धृष्टधुम्न ने तलवार से द्रोणाचार्य का सिर धड़ से अलग कर दिया।

उधर द्रोणाचार्य का अस्त्र-कौशल सुनकर विभिन्न देशों के राजा और

राजकुमार धनुर्वेद की शिक्षा लेने के लिए वहाँ आने लगे थे। एक दिन निषादराज (निषाद देश का राजा) हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य आचार्य द्रोण के पास आया, परन्तु उसे निषाद-पुत्र समझकर धर्मज्ञ आचार्य ने धनुर्वेद विषयक शिष्य नहीं बनाया। कौरवों की ओर दृष्टि रखकर ही उन्होंने ऐसा किया।

एकलव्य ने द्रोणाचार्य के चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया और वन में लौटकर उनकी मिट्टी की मूर्ति बनायी तथा उसी में आचार्य की परमोच्च भावना रखकर धनुर्विद्या का अभ्यास प्रारम्भ किया। आचार्य में उत्तम श्रद्धा और अभ्यास के बल पर उसने वाणों के छोड़ने, लौटाने और संधान करने में अच्छी स्फूर्ति प्राप्त कर ली।

एक दिन समस्त कौरव और पाण्डव शिकार खेलने के लिए वन में गये। उन्होंने साथ में एक कुत्ता भी ले रखा था। वह कुत्ता वन में घूमता एकलव्य के पास पहुँचा और भौंकने लगा। एकलव्य ने अपने अस्त्रलाघव का परिचय देते हुए कुत्ते के मुख को वाणों से भर दिया। वह कुत्ता उसी अवस्था में पाण्डवों के पास गया। उसे देखकर पाण्डव बड़े विस्मय में पड़ गये और वाण मारनेवाले की प्रशंसा करने लगे। वे वाण मारनेवाले की खोज करते हुए एकलव्य के पास पहुँचे। उस समय उसका रूप-रंग बदल चुका था, अतः वे उसे पहचान न सके। उन्होंने उसका परिचय पूछा तो उसने बताया कि वह निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र तथा द्रोणाचार्य का शिष्य है।

पाण्डव उसका परिचय पाकर लौट आये और वन में जो अद्‌भुत घटना घटी थी, वह सब द्रोणाचार्य से कह सुनायी। आचार्य द्रोण कुछ निश्चय करके अर्जुन को साथ लेकर एकलव्य के पास गये। एकलव्य ने आचार्य द्रोण की आगवानी की और अपने को शिष्यरूप में उनके चरणों में समर्पित करके गुरु द्रोण की विधिवत् पूजा की। आचार्य द्रोण बोले– ''वीर! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरु-दक्षिणा दो।''

यह सुनकर एकलव्य बहुत प्रसन्न हुआ और बोला– ''मैं आपको क्या दूँ? स्वयं गुरुदेव ही मुझे इसके लिए आज्ञा दें।'' आचार्य द्रोण ने कहा– ''तुम

मुझे दाहिने हाथ का अंगूठा दे दो।''

एकलव्य ने बिना कुछ सोच-विचार किये अपने दाहिने हाथ का अंगूठा काटकर उन्हें दे दिया। इस घटना से अर्जुन के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। उनकी भारी चिन्ता दूर हो गयी। द्रोणाचार्य का भी यह कथन सत्य हो गया कि अर्जुन को कोई दूसरा पराजित नहीं कर सकता।

एकलव्य की विद्या के आगे द्रोण की विद्या का कोई अस्तित्व ही न बचा था, अतः दक्षिणा में अंगूठा माँगने के अलावा अन्य कोई विकल्प न था। तदनन्तर एकलव्य ने शेष चार उँगलियों से धनुष चलाना सीख लिया। द्रोणाचार्य ने उसे संकेत से बता दिया था कि किस प्रकार तर्जनी और मध्यमा उँगलियों से बाण पकड़ धनुष की डोरी खींचनी चाहिए।

ऊपर के कथानक में आपने एक आचार्य की कुत्सित (निन्दनीय) भावना को देखा, अब आगे हम इन्हीं आचार्य द्रोण के एक और कथानक का वर्णन करते हुए अपने मुख्य प्रसंग पर आते हैं। महाभारत, 12/2-3 में है कि कर्ण ने गुरु द्रोणाचार्य से धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की। एक दिन अर्जुन को धनुर्वेद में अधिक शक्तिशाली देख कर्ण ने एकान्त में आचार्य द्रोण के पास जाकर यह कहा– ''गुरुदेव! मैं ब्रह्मास्त्र को छोड़ने और लौटाने की कला को रहस्यसहित जानना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं अर्जुन के साथ युद्ध करूँ। निश्चय ही आपका सभी शिष्यों और पुत्र पर बराबर स्नेह है। आपकी कृपा से विद्वान् पुरुष यह न कहें कि मैं सभी अस्त्रों का ज्ञाता नहीं हूँ।''

द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह॥
ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद् यथावच्चरितव्रतः।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात् कथंचन॥
(महाभारत, शान्ति0, अ0 2, श्लोक 12-13)

कर्ण के ऐसा कहने पर अर्जुन के प्रति पक्षपात करनेवाले आचार्य द्रोण कर्ण को दुरात्मा समझकर उससे बोले– ''ब्रह्मास्त्र को ठीक-ठीक ब्रह्मचर्य व्रत

का पालन करनेवाला ब्राह्मण जान सकता है अथवा क्षत्रिय। दूसरा कोई किसी तरह इसे नहीं सीख सकता।''

अब कर्ण ने आचार्य द्रोण के गुरु परशुरामजी से ब्रह्मास्त्र-विद्या ग्रहण करने की सोची। वह विचार करने लगा कि यह आचार्य द्रोण तो केवल क्षत्रिय और ब्राह्मणों को ही इस उच्च धनुर्वेद की शिक्षा देते हैं, अतः उसने परशुरामजी की कमियों का अध्ययन किया तो पाया कि वह केवल ब्राह्मणों को ही पढ़ाते हैं। वह सूतपुत्र था, अतः उसने एक युक्ति निकाली। कुछ दिन रुककर उसने चोटी बढ़ा ली। फिर तिलक-पताका लगा, गोत्र आदि की जानकारी कर सीधा महेन्द्र गिरि पर परशुरामजी के पास पहुँच गया। उसने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और कहा कि मैं भृगुवंशी ब्राह्मण (भार्गव) हूँ। परशुरामजी ने उसे शिष्यरूप में स्वीकार कर लिया। कर्ण आचार्य परशुरामजी से विधिवत् धनुर्वेद सीखकर उसका अभ्यास करने लगा।

एक दिन एक ब्राह्मण की गाय को उसने अनजाने में हिंसक पशु समझकर मार डाला। उसने इसके लिए ब्राह्मण से माफी माँगी, लेकिन कुपित ब्राह्मण ने उसे शाप देते हुए कहा– ''पापी! तू जिसके साथ ईर्ष्या रखता है और जिसे परास्त करने के लिये निरन्तर चेष्टा करता है, उसके साथ युद्ध करते समय तेरे रथ के पहिये को धरती निगल जायेगी। उस समय तेरा शत्रु पराक्रम करके तेरे मस्तक को काट गिरायेगा।'' कर्ण ने उस ब्राह्मण को गौएँ, धन और रत्न देकर प्रसन्न करने की चेष्टा की, लेकिन उसने उत्तर दिया कि मैं शाप को वापस नहीं ले सकता।

परशुरामजी ने कर्ण को शान्तभाव से ब्रह्मास्त्र की विधिवित् शिक्षा दी। एक दिन वे थकावट का अनुभव कर रहे थे, अतः कर्ण की गोद में सिर रखकर सो गये। उसी समय 'अलर्क' नाम का एक भयानक कीड़ा जिसका स्पर्श (डंक मारना) बड़ा भयंकर था, कर्ण की जाँघ को छेद दिया। वह गुरुजी के जागने के भय से न तो उसे दूर फेंक सका और न ही मार सका। जब उसका रक्त परशुरामजी के शरीर में लग गया, तब वे जाग उठे और भयभीत स्वर में कहा– ''अरे! मैं तो अशुद्ध हो गया। तू क्या कर रहा है? निर्भय

होकर मुझे इस विषय में ठीक-ठीक बता।'' तब कर्ण ने उस कीड़े के काटने की बात बतायी।

परशुरामजी ने कर्ण से पूछा– ''ओ मूर्ख! ऐसा भारी दुःख ब्राह्मण कदापि नहीं सह सकता। तेरा धैर्य तो क्षत्रिय के समान है। तू स्वेच्छा से ही सत्य बता, कौन है तू?''

कर्ण परशुराम के शाप के भय से डर गया। वह बोला– ''भार्गव! मैं ब्राह्मण और क्षत्रिय से भिन्न सूत जाति में पैदा हुआ राधापुत्र कर्ण हूँ। मैंने अस्त्र के लोभ से ऐसा किया है। इसमें संदेह नहीं है कि वेद और विद्या का दान करनेवाला गुरु पिता के ही तुल्य है, अतः मैंने आपको अपना गोत्र भार्गव बतलाया है।''

यह सुनकर परशुरामजी रोष में भरकर कर्ण को शाप देते हुए बोले– ''मूढ़! तुमने ब्रह्मास्त्र के लिए झूठ बोलकर मेरे साथ कपटपूर्ण व्यवहार किया है। इसलिये जब तक तू अपने समान योद्धा से नहीं भिड़ेगा और तेरी मृत्यु का समय निकट नहीं आ जायेगा, तभी तक तुझे इस ब्रह्मास्त्र का स्मरण बना रहेगा। जो ब्राह्मण नहीं है, उसके हृदय में ब्रह्मास्त्र कभी स्थिर नहीं रह सकता।'' आगे उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा–

गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते।
न त्वया सदृशो युद्धे भविता क्षत्रियो भुवि॥

(महाभारत, शान्ति0, अ0 3/32)

''तुझ मिथ्यावादी के लिए यहाँ स्थान नहीं है, परन्तु मेरे आशीर्वाद से इस भूतल का कोई भी क्षत्रिय युद्ध में तेरी समानता नहीं करेगा।''

महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय 90-91 में है कि महाभारत-युद्ध में कर्ण के वध का समय आ पहुँचा था। परशुरामजी ने उसे जो भार्गवास्त्र प्रदान किया था, वह उसके मन से निकल गया। साथ ही ब्राह्मण के शाप से उसका रथ डगमगाने लगा और पहिया पृथ्वी में धँस गया। अतः वह रथ से उतर पड़ा और अपनी दोनों भुजाओं से पहिये को पकड़कर उसे निकालने का प्रयास करने लगा। वह अर्जुन से बोला– ''दो घड़ी प्रतीक्षा करो, मैं इस फँसे

हुए पहिये को पृथ्वी से निकाल दूँ। मेरे साथ कपटपूर्ण बर्ताव न करो। जिस मार्ग पर कायर चला करते हैं, उस पर तुम भी मत चलो। तुम रथारूढ़ होकर भी मुझ भूमि पर खड़े हुए को बाणों की मार से व्याकुल न करो।''

इस पर श्रीकृष्ण ने कर्ण से कहा– ''सौभाग्य की बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्म की याद आ रही है। जब तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि ने द्रौपदी को सभा में बुलाकर अपमानित किया था, जुए के खेल से अज्ञान युधिष्ठिर को जान-बूझकर शकुनि से हरवाया था, वनवास का तेरहवाँ वर्ष बीत जाने पर भी जब तुमने पाण्डवों का राज्य उन्हें वापस नहीं दिया था, जब युद्ध में बहुत से महारथियों के साथ मिलकर अभिमन्यु को चारों तरफ से घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? यदि उन अवसरों पर जब धर्म नहीं था, तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्म की दुहाई देकर तालु सुखाने से क्या लाभ!''

श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर कर्ण ने लज्जा से अपना सिर झुका लिया। वह अर्जुन से युद्ध करने लगा। इसी बीच मौका पाकर महारथी कर्ण धरती में फँसे पहिये को निकालने का विचार कर रथ से कूद पड़ा और दोनों हाथों से पहिये को पकड़कर ऊपर उठाने की कोशिश करने लगा, पर वह अपने प्रयास में सफल न हो सका। इसी बीच अर्जुन ने अंजलिक नामक वाण को हाथ में ले लिया। श्रीकृष्ण ने कहा– ''अर्जुन! कर्ण जब तक रथ पर नहीं चढ़ जाता, तब तक ही अपने वाण के द्वारा उसका मस्तक काट डालो।'' अर्जुन ने उस वाण से उसका मस्तक धड़ से अलग कर दिया।

परशुराम क्षत्रिय-चरु से थे, जो ब्राह्मण-कुल में जनम गये। भगवान राम ने जब उनके तेज का हरण कर लिया तो वे तपस्या के लिए चले गये। त्रेतायुग में भगवान राम ने ग्यारह हजार वर्षों तक राज्य किया, बीच में परशुराम का कोई इतिहास नहीं मिलता। जब द्वापरयुग समाप्तप्राय था, तब उनका इतिहास फिर प्रकट होता है। उस समय भी बड़े-बड़े क्षत्रिय शासक थे, किसी को तो नहीं मारा। भीष्म से टकराये, शान्त हो गये। कर्ण को पहले शाप, फिर आशीर्वाद के साथ उनका इतिहास शान्त हो गया।

इसी तरह अर्जुन भी सोचता था कि श्रीकृष्ण बस बुद्धि में चपल हैं, धनुर्विद्या में कदाचित् मैं ही आगे हूँ। लेकिन गीता में जब भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों, जैसे– सूर्य में तेज, चन्द्रमा में शीतलता, पृथ्वी में क्षमता मैं हूँ। पूर्व में होनेवाले सप्तर्षि मैं हूँ। मैं ही काल और यम हूँ।– इत्यादि विभूतियों को गिनाया तो अर्जुन ने कहा– ''भगवन्! आप जो कह रहे हैं बिल्कुल सत्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु मैंने उन्हें केवल सुना है। आपके उस दिव्य ऐश्वर्ययुक्त स्वरूप का मैं प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ।''

भगवान बोले– ''अर्जुन! इन चर्मचक्षुओं से तुम मुझे नहीं देख सकते, अतः मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ जिससे तुम मुझे देख सको।''

जहाँ दृष्टि का संचार हुआ, अर्जुन ने उन्हें अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अद्भुत दर्शनोंवाले, अनेक दिव्याभूषणों से युक्त, अनेक शस्त्रों को हाथ में उठाये हुए, दिव्यमाला और वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध का अनुलेपन किये हुए सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त सीमारहित और विराट्स्वरूप परमदेव को अर्जुन ने देखा। उनके इस रूप को देखकर वह उनकी स्तुति करने लगा–

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ (गीता, 11/18)

हे भगवन्! आप ही परम अक्षर अर्थात् अक्षय परमात्मा हैं। आप ही इस जगत् के परम आश्रय हैं। आप ही शाश्वत-धर्म के रक्षक तथा अविनाशी सनातन पुरुष हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ (गीता, 11/41)

आपके इस प्रभाव को न जानते हुए मैंने आपको सखा मानकर प्रेम से अथवा प्रमाद से भी 'हे कृष्ण', 'हे यादव', 'हे सखे!'– इस प्रकार जो हठपूर्वक कहा, उन त्रुटियों के लिए आप मुझे क्षमा कर दें।

लेकिन साधक सफलता को स्वयं की उपलब्धि मानता है। जब महाभारत-युद्ध समाप्तप्राय था, तो अर्जुन सफलता का श्रेय स्वयं को देने लगा कि यह सब उसी के दिव्यास्त्रों का प्रभाव है। तब भगवान श्रीकृष्ण ने सोचा कि यह तो अब मुझे भूलकर खुद ही अपनी पीठ थपथपा रहा है। युद्ध में अर्जुन कर्ण का रथ सौ कदम पीछे हटाता तो कर्ण अर्जुन का मात्र तीन कदम। जब कर्ण रथ को तीन कदम पीछे हटाता तो श्रीकृष्ण कहते– ''साधु कर्ण! तेरे जैसा योद्धा न सृष्टि में हुआ है न होगा। तुम धन्य हो, तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं और तुम्हारे गुरु धन्य हैं।'' अर्जुन से कहते– ''तुम्हें क्या हो गया है? आचार्य द्रोण की दी हुई विद्या भूल गये क्या? तुम्हारी पकड़ ढीली तो नहीं हो गयी?'' यह अर्जुन की समझ में बिल्कुल न आया। अतः उसने पूछा– ''भगवन्! कर्ण मेरे रथ को केवल तीन कदम पीछे हटाता है और मैं सौ कदम, फिर भी आप उसी की वाहवाही क्यों कर रहे हैं?''

श्रीकृष्ण बोले– ''अर्जुन! मैं त्रिलोकी का भार लेकर रथ पर बैठा हूँ और हनुमानजी पूरी शक्ति से रथ को दबाये पड़े हैं। दिव्य रथ और दिव्य घोड़ें हैं। कर्ण तीन कदम पूरी त्रिलोकी को पीछे हटा रहा है और तुम एक साधारण रथ को पीछे हटा रहे हो। अतः तुम्हारा और कर्ण का मुकाबला हुआ ही नहीं। उसके सामने तुम मात्र एक पतिंगे की तरह हो।''

इस पर भी अर्जुन की समझ में कुछ नहीं आया। वह मन-ही-मन बुदबुदाने लगा कि ये करते तो कुछ भी नहीं, केवल लगाम और चाबुक को इधर-उधर घुमाते हैं, लेकिन नखरा ऐसा कि त्रिलोकी का भार लेकर बैठे हैं। अतः उसने श्रीकृष्ण को रथ से नीचे उतरने को कहा। श्रीकृष्ण मुस्कराये और रथ से उतर गये। जहाँ रथ के नीचे उनका पाँव पड़ा तहाँ कर्ण का बाण लग गया। रथ जमीन छोड़कर आकाश में गिद्ध की तरह मँडराते, बवण्डर में फँसी पत्ती की तरह घूमते सौ योजन दूर जाकर गिरा। रथ का बिगड़ा तो कुछ नहीं।

दो घड़ी में घबड़ाया हुआ भागकर आया और बोला– ''प्रभो! मेरी युद्ध की प्यास अब बुझ गयी। मैं भली प्रकार समझ गया कि कर्ता-धर्ता तो आप हैं। आप आयें, रथ में बैठें।'' भगवान रथ में बैठ गये। अन्त में विजय अर्जुन की हुई।

ऐसा ही गर्व हनुमान को भी हो गया था कि अगर मैं न होता तो संजीवनी बूटी लाकर लक्ष्मण को कौन जिलाता? जहाँ भरत ने एक सींक का बाण मारा तो चारों खाने चित्त गिरे। ऐसी ही एक घटना भगवान श्रीकृष्ण के परम धाम पधारने के बाद अर्जुन के साथ और घटी।

जब सभी यदुवंशी ऋषिशाप के कारण मौसल युद्ध में एक दूसरे के द्वारा मार दिये गये, तब श्रीकृष्ण ने वन में जाकर एकान्त में बैठे बलरामजी का दर्शन किया। वे योगयुक्त हो समाधि में बैठ परमधाम पधार चुके थे। श्रीकृष्ण ने भी अपनी लीला का संवरण के लिए किसी निमित्त के प्राप्त होने की इच्छा की। वे मन, वाणी और इन्द्रियों का निरोध करके पृथ्वी पर लेट गये। उसी समय जरा नामक एक व्याध ने उन्हें मृग समझकर उनके पैर के तलवे में वाण मारकर घाव कर दिया। फिर उस मृग को पकड़ने उसके पास आया तो योग में स्थित, चार भुजावाले, पीताम्बरधारी भगवान श्रीकृष्ण पर उसकी दृष्टि पड़ी। अपने को अपराधी मानकर उसने भगवान् के पैर पकड़ लिये। भगवान ने कहा– तू शोक न कर। पिछले जन्म में तूने कहा था कि मैं भी छिपकर मारूँ, अतः तेरा बदला पूरा हुआ। भगवान ने उसे आश्वासन दिया। वह बिलखता हुआ वहाँ से चला गया।

उधर दारुक द्वारा श्रीकृष्ण का आदेश पाकर अर्जुन द्वारका पहुँचे। अपने मामा के महल में पहुँचकर उन्होंने देखा कि वे पुत्रशोक से दुःखी होकर पृथ्वी पर पड़ें हैं। वसुदेव अपने परिवारीजनों की याद करके रोने लगे और सारा वृत्तान्त अर्जुन को सुनाकर कहा– ''श्रीकृष्ण ने जो कहा है, उसे करो। मुझे लेटा रहने दो।'' सवेरा होते ही वसुदेवजी ने भी अपने चित्त को परमात्मा में लगाकर योग के द्वारा उत्तम गति प्राप्त की। अर्जुन ने उनका दाह-संस्कार किया। तत्पश्चात् रथ पर आरूढ़ हो द्वारका से चल दिये।

अर्जुन की आज्ञा से यदुवंशियों के नौकर, घुड़सवार, रथी तथा नगर-प्रान्त के लोग बूढ़े-बालकों से युक्त विधवा स्त्रियों को चारो ओर से घेरकर चलने लगे। यदुवंशियों के समस्त बालक तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, महाधनी शूद्र और आभूषणों से लदी भगवान श्रीकृष्ण की सोलह हजार रानियाँ, श्रीकृष्ण के पौत्र वज्र को आगे करके चल रहे थे। अनाथ स्त्रियों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गयी थी। उस जनसमुदाय के निकलते ही समुद्र ने द्वारका नगरी को अपने आगोश में ले लिया। अर्जुन ने उस नगर का जो-जो भाग छोड़ा, उसे समुद्र ने अपने जल से आप्लावित कर दिया।

चलते-चलते रास्ते में जंगल पड़ गया। एकमात्र अर्जुन के संरक्षण में ले जाती हुई इतनी अनाथ स्त्रियों को देखकर वहाँ रहनेवाले बड़े-बूढ़े लुटेरों ने परस्पर विचार किया कि स्त्रियों और धन को लूट लेंगे। ऐसा निश्चय करके वे लुटेरे हजारों की संख्या में टूट पड़े। उन्हें पीछे की ओर से धावा करते देख अर्जुन सेवकों सहित लौट पड़ा और उनसे बोले– अरे पापियो! यदि जीवित रहना चाहते हो तो अभी लौट जाओ। लेकिन उन्होंने अर्जुन के कथनों की अवहेलना की। भयंकर मारकाट छिड़ने पर उन्होंने किसी तरह दिव्य धनुष गाण्डीव पर प्रत्यंचा तो चढ़ा दी, परन्तु जब वे अपने अस्त्र-शस्त्रों का चिन्तन करने लगे तब उन्हें याद बिल्कुल न आया। दिव्यास्त्रों का विस्मरण हुआ जान वे लज्जित हो गये।

उस समुदाय में स्त्रियाँ बहुत अधिक थीं। लुटेरे कई ओर से उन पर धावा करने लगे और अर्जुन उनकी रक्षा का यथासाध्य प्रयत्न करते रहे। साथ चल रहे समस्त योद्धाओं के देखते-देखते वे लुटेरे उन स्त्रियों को चारों ओर से खींच-खींचकर ले जाने लगे। लुटेरों से संघर्ष में अर्जुन के अक्षय तरकश के समस्त बाण क्षीण हो गये। वे देखते रह गये और लुटेरे बहुत-सी स्त्रियों और धन को लूट ले गये। अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान लुप्त हो गया, धनुष काबू से बाहर हो गया और अक्षय तरकस से वाणों का क्षय हो गया – अर्जुन इन सब घटनाओं को दैव का विधान मानने लगे। तदनन्तर वे उस युद्ध से निवृत्त हो गये और बोले– "अस्त्र-ज्ञान मिथ्या है। मैंने जो शर-समूह से अनेक

राजाओं को जीता था, वह सब भगवान श्रीकृष्ण का ही प्रभाव था। मुझे उन भगवान ने ठग लिया। देखो, मेरी वे ही भुजाएँ और मुट्ठी हैं, वहीं स्थान है और मैं भी वही अर्जुन हूँ तथापि श्रीकृष्ण के बिना सब सारहीन हो गये। अवश्य ही मेरा अर्जुनत्व भगवान की कृपा से ही था। उनके बिना मुझ महारथी को तुच्छ कोल-भीलों (आभीरों) ने जीत लिया।''

तदनन्तर बची-खुची स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों और धन को लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये। वहाँ सबको यथायोग्य बसाकर अनिरुद्ध के पुत्र वज्र (श्रीकृष्ण के पौत्र) का राज्याभिषेक कर दिया। जब युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को अर्जुन से यह बात मालूम हुई कि यदुवंशियों का संहार हो गया है तो उन्होंने परीक्षित को हस्तिनापुर के राज्यपद पर अभिषिक्त करके द्रौपदी सहित हिमालय की राह पकड़ी। तुलसीदास जी कहते हैं-

तुलसी नर को का बड़ो, समय होत बलवान।
भीलन लूटी गोपिका, वही अर्जुन वही बान॥

समय ही मनुष्य को कमजोर और सर्वश्रेष्ठ बनाता है। अर्जुन का समय बदला तो उसी के सामने भीलों ने गोपियों को लूट लिया।

तदेव लग्नं सुदिनं तदेव, ताराबलं चन्द्रबलं तदेव।
विद्याबलं देवबलं तदेव, लक्ष्मीपते तेऽङ्घ्रियुगं स्मरामि॥

जब लक्ष्मीपति भगवान साथ हैं तो शुभ समय है, शुभ दिन है, शुभ नक्षत्र है। कोई वार अशुभ नहीं, कोई दिशा गलत नहीं है। राहु, केतु, शनि आदि कोई ग्रह अशुभ फलदायक नहीं हैं। समय शून्य में नहीं फलता, भगवान साथ हैं तो समय आपका है।

सारांशतः ईश्वरीय तेज ही सब कुछ है। वही तेज अर्जुन के साथ था तो वह कामयाब रहा, हनुमानजी के साथ था तो वे सफल रहे। जब-जब अर्जुन चूके मात खा गये, हनुमान चूके मात खा गये। परशुराम चूके तो वह मात खा गये। ईश्वरीय तेज का तात्पर्य भगवान का रक्षक के रूप में खड़ा होना है। परशुरामजी के साथ भगवान रक्षक के रूप में खड़े थे। जब उन्होंने अपना रक्षा-सूत्र खींच लिया, तब बचा क्या? अतः मात खाते चले गये।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं– साधक शूद्र है तो शूद्र-स्तर से, वैश्य है तो वैश्य-स्तर से और क्षत्रिय है तो क्षत्रिय-स्तर से भजन करे। दूसरे की नकल करनेवाला भय को प्राप्त होता है। **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।' (गीता, 18/45)–** अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म करने की क्षमता के अनुसार कर्म करता हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है। जो अपने से उन्नत अवस्थावालों की नकल करता है, वह आवागमन को प्राप्त होता है। वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण साधना के क्रमोन्नत सोपान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ (गीता, 4/13)

हे अर्जुन! चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की सृष्टि मैंने की। **'गुणकर्मविभागशः'**– गुणों के पैमाने से कर्म को चार भागों में बाँटा। उसके कर्ता मुझ अविनाशी को अकर्ता ही जान।

श्रीकृष्ण के अनुसार वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म है। सत, रज और तम तीन गुण हैं। ये तीनों प्रकृति से उत्पन्न हैं। वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप इन्हीं तीन गुणों के आधार पर निर्मित हुआ है। विभिन्न गुणों ने ही विभिन्न वर्गों (समुदाय) को जन्म दिया। सभी वर्गों के अलग-अलग गुण निर्धारित किये गये। जिसमें सत्त्वगुण था वह ब्राह्मण माना गया, जिसमें रजोगुण था क्षत्रिय, जिसमें रजोगुण और तमोगुण दोनों गुणों का समावेश था वह वैश्य तथा जिसमें केवल तमोगुण का समावेश था, वह शूद्र कहा गया। वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का यही गुणात्मक (गुण-सम्बन्धी) सिद्धान्त है। वस्तुतः व्यक्ति का कर्म उसकी गुणात्मकता से संचालित होता है तथा उसकी समस्त क्रियायें उसके गुणों से प्रभावित होती हैं। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ (गीता, 14/19-20)

हे अर्जुन! जिस काल में द्रष्टा (पुरुष) तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे परम तत्त्व को विदित कर लेता है, उस समय वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। पुरुष इस स्थूल शरीर के कारणरूप तीनों गुणों से अतीत होकर जन्म, मृत्यु, जरा और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त होकर अमृत-तत्व का पान करता है।

कर्म स्वभाव के आधार पर ही मनुष्य का गुण विकसित होता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (गीता, 18/41)

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभाजित किये गये हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता,18/42)

'**शमः**'–मन का शमन, '**दमः**'–इन्द्रियों का दमन, '**तपः**'–मन, वाणी और शरीर को इष्ट के अनुरूप तपाना, '**शौचम्**'–बाह्य और भीतर (अन्तःकरण) की पवित्रता, '**क्षान्तिः**'–क्षमाभाव, '**आर्जवम्**'–मन, इन्द्रियों और शरीर की सर्वथा सरलता, '**आस्तिक्यम्**'–एक इष्ट में सच्ची आस्था, ज्ञान अर्थात् परमात्मा की जानकारी का संचार, विज्ञान अर्थात् परमात्मा से मिलनेवाले निर्देशों की जागृति एवं उसके अनुसार चलने की क्षमता– ये सब-के-सब '**ब्रह्मकर्म स्वभावजम्**'–ब्राह्मण के स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं। जिसके स्वभाव में ये योग्यतायें पायी जायँ तो वह ब्राह्मण-श्रेणी का कर्ता है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ (गीता, 18/43)

शूरवीरता, तेज (ईश्वरीय तेज), धैर्य, चिन्तन में दक्षता, प्रकृति के

संघर्ष से न भागने का स्वभाव, दान अर्थात् सर्वस्व का समर्पण– यह सब क्षत्रिय के स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं। जिसके स्वभाव में ये योग्यतायें पायी जायँ, तो वह कर्ता क्षत्रिय-श्रेणी का है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ (गीता, 18/44)

कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये सब वैश्य के स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं। शरीर ही एक क्षेत्र है। इस क्षेत्र में चिन्तन का जो बीज पड़ा है, उसे सुरक्षित रखते हुए इसमें आनेवाले विजातीय विकारों का निराकरण (शमन) करते जाना ही खेती है। विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि से इन्द्रियों को सुरक्षित रखना ही गोरक्षा है। प्रकृति के द्वन्द्वों से शनैः-शनैः आत्मिक सम्पत्ति का संग्रह करना ही व्यवसाय है।

परिचर्या शूद्र के स्वभाव से उत्पन्न हुआ कर्म है। परिचर्या का तात्पर्य अपने से उन्नत अवस्थावालों या प्राप्तिवाले गुरुजनों की सेवा करना शूद्र का स्वभावजन्य कर्म है। **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** (गीता, 18/45)– अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥(गीता,18/46)

जिस परमात्मा से यावन्मात्र जीव-जगत् की उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म करने की क्षमता के अनुसार अर्चन-पूजन करके मानव परम सिद्धि को प्राप्त होता है; जिसके पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। स्वभाव में क्षमता शूद्र श्रेणी की है तो सेवा-स्तर का कर्म होगा। लेकिन पूजा उसी ईश्वर की होगी जिससे सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जो तत्त्वरूप से सर्वत्र व्याप्त है। साधक की क्षमता वैश्य श्रेणी की है तो गो-संयम अर्थात् इन्द्रिय-रक्षा, आत्मिक सम्पत्ति-संग्रह के स्तर से कर्म करते हुए पूजन उसी परमात्मा का करना है, जिसके तेज के अंशमात्र से सृष्टि का सृजन, पालन और परिवर्तन होता रहता

है। क्षत्रिय श्रेणी का साधक है तो शौर्य, तेज, पराक्रम, साधनात्मक संघर्ष से पीछे न हटने का स्वभाव के स्तर का कर्म होता है। किन्तु पूजन उसी परमात्मा का ही करना है जो सर्वत्र व्याप्त है जिससे सभी की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मण-श्रेणी का साधक है तो शम, दम, तप, शौच, मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, अनुभवी उपलब्धि, वास्तविक जानकारी, धारणा ध्यान इत्यादि कर्म उसके स्वभाव में विद्यमान हैं। किन्तु वह भी भजन किसका करे? उसी परमेश्वर का, जिससे सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस प्रकार अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म के द्वारा अर्चन करके मानव परम सिद्धि को प्राप्त होता है। गीता के अनुसार पूजा एक परमात्मा की। गीता के वर्ण साधना के आन्तरिक सोपान हैं। गीता बाहर मानव समाज में जातियों का बँटवारा नहीं करती। अतः परमात्मा की भावना, परमात्मा का ही सर्वांगीण अर्चन और क्रमशः चलना आवश्यक है।

स्वकर्म एक ही साधक की साधना के चार क्रमोन्नत सोपानों के कर्म हैं जिन्हें गीता में वर्ण कहा गया है। गीता की ही नकल करके व्यवस्थाकारों ने मानव-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसी चार ऊँच-नीच, घृणामूलक जातियों और असंख्य उपजातियों में बाँटकर, उनके कार्यों को महापुरुषों के नाम से प्रचारित स्मृतियों में लिखकर एक परमात्मा की पूजा के स्थान पर प्रत्येक जाति के अनेकानेक देवी-देवताओं का सृजन कर डाला, जैसे– शूद्र भूत-भवानी पूजे, क्षत्रिय दुर्गा की पूजा करे (वह भी हर परिवार की अपनी अलग-अलग दुर्गा!), वैश्य लक्ष्मी की पूजा करे तो ब्राह्मण सरस्वती की। परमात्मा की पूजा के लिए कोई जाति बची ही नहीं। ये समाज के विकृत रीति-रिवाज हैं। गीता इनका समर्थन नहीं करती। गीता में जातिगत ऊँच-नीच है ही नहीं। गीता के अनुसार सभी मनुष्य एक परमात्मा की संतान हैं। सबकी पूजा का परमात्मा एक, साधना एक और पूजन के अंत में मिलनेवाली परम सिद्धि अर्थात् परमात्मा में विलय सबके लिए एक समान है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (गीता, 3/35)

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अच्छी प्रकार आचरित दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। स्वधर्माचरण में मरना भी परम कल्याणकारी है और दूसरे का धर्म भय देने वाला है।

इस तरह वर्ण का आधार गुण और कर्म हैं। गुण परिवर्तनशील हैं, अतः तम से रज, रज से सत गुणों में प्रवेश के बाद त्रिगुणातीत अवस्था की प्राप्ति हो सकती है। गुणों के परिवर्तन से वर्ण में भी परिवर्तन संभव है अर्थात् शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय, क्षत्रिय से ब्राह्मण-जैसे उन्नत वर्णों में प्रवेश पाया जा सकता है और अन्त में चिदानन्दरूप कल्याणकारी कैवल्य पद की प्राप्ति हो सकती है। भगवान श्रीकृष्ण गीता के अध्याय 2/45-46 में इसकी पुष्टि करते हैं–

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

हे अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं, इसलिए तू तीनों गुणों से ऊपर उठ। सुख-दुःख के द्वन्द्वों से रहित नित्य सत्त्ववस्तु परमात्मा में स्थित और योगक्षेम को न चाहता हुआ आत्मवान् बन। क्योंकि सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय से मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है। तात्पर्य यह है कि जो वेदों से ऊपर उठता है, वह ब्रह्म को जानता है और जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्राह्मण है। तू वेदों की अधिकृत भूमि तीनों गुणों से ऊपर उठ ब्रह्म को जान, ब्राह्मण बन।

परवर्ती साहित्य में वर्ण के आधार पर जाति की व्याख्या की गई, जिससे भ्रमवश वर्ण और जाति दोनों को एक ही समझने की भूल की गयी। जाति के आधार पर वर्ण की व्याख्या करना तर्कसंगत नहीं है। वर्ण केवल चार हैं और जातियाँ-उपजातियाँ सैकड़ों हैं। सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न

जातियों का एक-दूसरे समूह से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि जन्म से ही जातियों का निर्धारण होता है और इसी परिधि में व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन स्थित होता है। अतः जाति का आधार जन्म है।

मानव के मनोभाव अमूर्त (आकाररहित) होते हैं अतः उनका वर्णन करना कठिन होता है। अतः मनीषियों ने उन्हें स्थूलरूप (मूर्त्तरूप) प्रदान कर विभिन्न कथाओं के माध्यम से पात्रों के रूप में उनका वर्णन किया है। उन्होंने दस अवतारों– मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की कल्पना की। परशुरामजी भी अमूर्त योग्यता के मूर्तरूप हैं। ये कोई व्यक्ति-विशेष नहीं हैं, मात्र प्रतीक हैं। जो अमूर्त हो, अप्रतिम हो, जिसकी प्रतिमा गढ़ी ही नहीं जा सकती, उसकी प्रतिमा के सम्बन्ध में कुछ कहना न्यायसंगत नहीं है। पूर्व में परशुरामजी से सम्बन्धित धनुर्भंग और क्षत्रियों के वध की जो कथायें बतायी गयी हैं, उनके आध्यात्मिक अर्थ कुछ और ही हैं।

धनुर्भंग की कथा किसी धनुही या सामान्य धनुष के टूटने की कथा नहीं है। अगर सामान्य धनुष की बात होती तो राम को धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते और उसे टूटते वहाँ उपस्थित सभी देखते, लेकिन मानसकार तुलसीदास जी बालकाण्ड में कहते हैं– **'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा रहे सब ठाढ़े॥'** धनुष टूटते कोई नहीं देख पाया। वस्तुतः यह सब किसी साधक के अन्तःकरण में घटित होनेवाली घटनायें हैं। ध्यान ही धनुष है। राम के धनुष उठाने का तात्पर्य साधक का ध्यान की उच्च अवस्था में जाने से है। यह सद्गुरु की कृपा से ही संभव है। भव-चाप के टूटने का तात्पर्य भवाटवी संसार से साधक के चित्त के चांचल्य के क्रम का टूटना है। चित्त के चांचल्य के क्रम के टूट जाने से साधक के हृदयाकाश में अपार शान्ति का वातावरण बन जाता है। उसकी दुनिया बदल जाती है, उसका स्तर (श्रेणी) बदल जाता है। उसमें योगशक्ति का संचार हो जाता है, शक्तिरूपी सीता उसका वरण कर लेती है। जागृतिरूपी जयमाला मिल जाती है, साधक जड़ (स्थूल) संसार के क्षेत्र से बाहर आ जाता है। प्रकृतियुक्त परावाणी ही परशुराम है। अब

परावाणी-स्तर से, परा-स्तर से प्रकृति परशुराम के रूप में साधक की परीक्षा लेती है, परीक्षण करती है– यही परशुराम का उछल-कूद (उत्पात) है। अन्तःकरण में सद्गुण एवं दुर्गुणों के युद्ध को लड़नेवाले साधक क्षत्रिय-स्तर के होते हैं। स्वावलम्बी साधकों को यह प्रकृतियुक्त परावाणीरूप परशुराम मार डालता है अर्थात् उन्हें अपने पथ से च्युत कर देता है। उनके पास जो सद्गुणरूपी राज्य (लोक) हैं, छीन लेता है। लेकिन जो साधक सद्गुरु की छत्रछाया में हैं, जिनके साथ अनुभवी उपलब्धि, विज्ञानरूपी राम, विवेकरूपी लक्ष्मण और शक्तिरूपी सीता हैं, उनसे यह पराजित हो जाता है। अन्ततः प्रकृतियुक्त परावाणी अनुकूल हो जाती है, अपना समर्थन दे देती है। यही परशुराम का रहस्य है।

उपसंहार–

सृष्टि के आदि से ही मनुष्य आपस में लड़ते-झगड़ते ही रहे हैं। संघर्ष करना जीव का स्वभाव है किन्तु भारत में धर्म को ढाल बनाकर समाज में ऊँच-नीचजनित भेदभाव का सृजन कर सबको एक दूसरे से लड़ा दिया गया। जब परमात्मा अव्यक्त अमूर्त, अचिन्त्य और अगोचर है तो बुद्धि और चिन्तन के बल पर उसे प्राप्त करने की क्रिया अर्थात् धर्म का निर्धारण करना ही भूल है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता (4/34) में धर्म को जानने के लिए तत्वदर्शी महापुरुष के पास जाने को कहा। ज्ञान के सम्बन्ध में, धर्म और शाश्वत सत्य के सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार किसी तत्वदर्शी से ही पूछने का विधान है।

दूसरी बात, सभी भारतीय शास्त्रों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है, इन शास्त्र के प्रवक्ताओं को साबर मंत्र और अध्यात्म का ज्ञान नहीं है। ये जब कहेंगे तब सामाजिक व्यवस्था को दृष्टि में रखकर कहेंगे। तत्कालीन भारत के तथाकथित विद्वानों ने करोड़ों को मुसलमान बना दिया, करोड़ों को ईसाई बना दिया, करोड़ों हिन्दू अछूत बनकर पड़े हुए हैं। यह सब इन विद्वानों की देन है।

कुछ दिन पहले काशी विश्वनाथ मंदिर में कुछ हरिजन चले गये तो

इतना हंगामा हुआ कि धर्म के पुरोधाओं ने दूसरा मंदिर बना दिया कि इस मंदिर से कल्याण नहीं होगा, अब इस नये मंदिर में आओ। इतना बड़ा अज्ञान! प्रत्येक अवतार का एक आध्यात्मिक स्वरूप होता है। भगवान राम त्रेता युग में आये। एक लाख वर्ष से रावण उत्पात कर रहा था, अवतार लेते ही उन्होंने सारा उत्पात दूर किया। भगवान की शरण में आगे-पीछे घूमने वाला कौन ऐसा अभागा होगा जो भगवान का धाम न चाहे। लेकिन जो राक्षस भगवान को रात-दिन अपशब्द कहते थे, वे सब धाम चले गये। **'राम राम कहि तन तजहिं पावहिं पद निर्बान।'**

राम-रावण युद्ध चल रहा था। देवता दूर से ही 'जय हो, जय हो' कह रहे थे। रावण ने कहा– अरे कायरों! तुम्हारी भाव-भंगिमा से प्रतीत हो रहा है, तुम हमारी जय नहीं चाहते हो, राम की जय चाहते हो। नमक हमारा खाते हो और जय राम की चाहते हो। ठहरो, पहले तुम्हीं से हिसाब चुकता करता हूँ। रावण झपटा, देवता आकाश में छितरा गये। राम ने बाण मार कर रावण को नीचे उतारा। युद्ध हुआ, रावण मारा गया। फिर सब देवता स्तुति करने लगे- भगवन्! हम देवता **'परम दुख पायो'**, **'हम देवता परम अधिकारी। बिषय बस्य तव भगति बिसारी॥'** और **'कृतकृत्य प्रभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए॥'**

भगवान ने कहा– तुम अब अपने धाम जाओ, प्रसन्नता से रहो। अब तुम्हारे जीवन में कोई खतरा नहीं है। यह बताओ, अमृत थोड़ा-बहुत बचा है? देवराज बोले– हाँ, असुरों से बचाकर हम लोगों ने थोड़ा-बहुत रखा है। भगवान ने कहा– लाओ, इन वानरों ने, रीछों ने, सबने बड़ी सेवा की है। इन सब पर अमृत छिड़क दो, ये जीवित हो जायँ, इनका कल्याण हो जाय।

देवराज तुरन्त अमृत ले आये, छिड़क दिया। **'सुधा वृष्टि भइ दोउ दल ऊपर। उठे भालु कपि नहिं रजनीचर॥'** भालू-बंदर सब उठ गये और निशाचर एक भी नहीं उठा। लगता है, अमृत ने बड़ा पक्षपात किया किन्तु ऐसा नहीं है। राक्षस तो पहले ही भगवान के धाम जा चुके थे क्योंकि मरते समय वे राम-राम कहा करते थे। **'राम राम कहि तन तजहिं, पावहिं पद**

निर्बान।' वहाँ पर राक्षसों का शरीर पड़ा था। स्वरूप से, आत्मा से वे सब परम धाम चले गये थे। वानर एक भी नहीं गया। ब्राह्मण एक भी नहीं गया जबकि ब्राह्मणों के लिए ही अवतार होता है और ब्राह्मण पार नहीं गये।

भगवान के धाम में केवल वशिष्ठ जी गये। जब भगवान का राज्याभिषेक हो गया, रावण इत्यादि मर गये, चारो तरफ शांति की लहर आ गयी तब वशिष्ठ राम के महल में गये। राम उठकर खड़े हो गये और कहा– भगवन्! आपने क्यों कष्ट किया, सेवक को बुला लेना चाहिए था। वशिष्ठ बोले– राम! गुरु-शिष्य का व्यवहार बहुत हो चुका। यह **'उपरोहित्य कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृति कर निन्दा।।'**– पुरोहिती अत्यन्त निकृष्ट कर्म है। वेद, पुराण, स्मृतियाँ सब इसकी निन्दा करते हैं। मैं इसे ले ही नहीं रहा था। **'जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगें सुत तोही।।'** जब मैं इसे ले ही नहीं रहा था तो ब्रह्मा जी ने कहा- हे पुत्र! कर्म तो निकृष्ट है, इसमें कोई दो राय नहीं। लेकिन तुम ले लो, तुम्हारा उद्धार हो जायेगा क्योंकि इसी कुल में भगवान ज्योतिर्मय परमात्मा राम के रूप में अवतार लेंगे, असुरों का वध करेंगे, यह करेंगे, वह करेंगे, यह उनकी पहचान है और तुम्हारा उद्धार हो जायेगा। तुम जरूर ले लो। तो राम! विधाता ने अवतार के जो-जो लक्षण बताये थे, वे घटनायें घट चुकी हैं। अब अपने चरणों की अनपायनी भक्ति मुझे प्रदान करो।

वशिष्ठ लगे स्तुति करने। भगवान की स्तुति किया, दण्डवत किया और चले गये। राम ने भी उन्हें प्रणाम किया। तो एक को तारा जो वशिष्ठ थे। अनुनय-विनय किया तब। विप्र के लिए अवतार हुआ लेकिन एक भी विप्र को नहीं तारा। राक्षस विप्रों को सताते थे, घड़ा भर-भरके उनका खून पीते थे। सुधावृष्टि होते ही- **'रामाकार भए तिन्हके मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन।।'**- वे राम के आकार में, राम के स्वरूप में परिवर्तित हो गये। जन्म-मृत्यु अर्थात् भव-बंधन छूट गया तो वहाँ युद्धस्थल में था कौन जिसको अमृत जिलाता! वानर इत्यादि सभी उठ गये, एक भी धाम नहीं गया।

सीता की खोज में आगे चलते हुए भगवान श्रीराम को कबन्ध नामक असुर मिला। **'आवत पंथ कबंध निपाता। तेहिं सब कही साप कै बाता॥ दुर्वासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा॥'**

राम ने विप्रों की बड़ी प्रशंसा की– **'सुनु गंधर्व कहहुँ मैं तोही। मोहि न सुहाइ ब्रह्मकुल द्रोही॥'**, **'सापत ताड़त परुष कहन्ता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥'**, **'पूजिय बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥'** विप्रों की प्रशंसा करने वाले वही राम ने अपने जन्म से अंतिम वर्षों तक अपने शासन की ग्यारह हजार वर्षों की अवधि में किसी ब्राह्मण को धाम नहीं भेजा। समय-समय पर उनको दान अवश्य दिया। अर्थात् अवतार लेने वाले भगवान सबके हैं, किसी एक के नहीं। इसी प्रकार गीता में है, पातंजल योगदर्शन में भी यही है।

राम एक स्थिति का नाम है। रामायण में भी राम एक स्थिति हैं और गीता में भी भगवान एक स्थिति का नाम है। परशुराम का आन्तरिक स्वरूप है। गीता में भगवान ने इसे अधिक स्पष्ट किया है कि अर्जुन! यदि तू सभी पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तब भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा भली प्रकार पापों से निःसंदेह तर जायेगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (गीता, 4/36)

गीता सार्वभौम है, संसार के मनुष्य मात्र के लिए है। किन्तु भारत में वर्ण को जाति कह दिया गया और जातियों का बँटवारा ऐसे किया गया कि उनमें से आधों को तो फेंक दिया कूड़े में, और आधों के लिए भगवान पालकी लेकर खड़े हैं। जिन आधों के लिए भगवान अपना रास्ता खोलकर बैठे हैं उनमें से किसी एक को भी तारा नहीं। वास्तव में गीता के जो चार वर्ण हैं, साधना के क्रमोन्नत सोपान हैं। दुनिया में लोग उसी की नकल में जातियों के नाम भी रख लेते हैं और शास्त्र में भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। लेकिन यदि साधना नहीं जानता तो वर्ण उसके लिये कुछ भी नहीं है। गीता के वर्ण अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट– चार प्रकार के साधकों की श्रेणी हैं।

अल्पज्ञ शूद्र, विधि प्राप्त वैश्य, संघर्षशील क्षत्रिय, विलय की योग्यता वाला ब्राह्मण; और विलय पा गया तो तत्त्वदर्शी। एक ही साधक इन सब घाटियों से पार होता है। कालान्तर में भारतवर्ष में इन्होंने जाति बनाकर व्यवस्था दे दिया कि एक जाति तो सदैव उत्तम भोजन करे, और बाकी करीब पैंसठ प्रतिशत जातियाँ मारी-मारी फिरें। भारत के तथाकथित विद्वानों के हाथ में, भाषाविद्, क्रूर लोगों के हाथ में शास्त्र पड़ गया तो वे जानते भी क्या थे? उन्होंने जो कुछ किया, सामाजिक-व्यवस्था चलाने के लिए किया लेकिन वर्ण का अर्थ जाति नहीं होता।

व्यवस्थाकार कुछ जातियों के तो पीछे पड़ गये। अब एक जाति ऐसी कि शूद्र मन्दिर में न जाये, एक जाति ऐसी कि छूए ना, एक जाति ऐसी बगैर नहाए पवित्र, और एक जाति ऐसी नहा ले तब भी अशुद्ध! यह सब कैसी मूर्खता है? धर्म का इनसे कोई मतलब नहीं। हमें तो लगता है कि ऐसे लोग धर्म की आड़ लेकर मनुष्य प्रजाति के दुश्मन हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

दुनिया के खींचतान की जड़ शास्त्र के मर्म को न जानने वाले भाषाविदों द्वारा की गयी शास्त्रों की व्याख्या है। रामायण में आद्योपान्त ब्राह्मणों की प्रशंसा है, किन्तु क्या भगवान ने किसी ब्राह्मण को तारा? तब फिर!

*** वर्ण साधना (भजन) की क्रमोन्नत स्थितियाँ हैं, न कि जातियाँ–**

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ (3/20)

जनक माने राजा जनक नहीं, जनक जन्मदाता को कहते हैं। योग ही जनक है जो आपके स्वरूप को जन्म देता है, प्रकट करता है। योग से संयुक्त प्रत्येक महापुरुष जनक हैं। ऐसे योगसंयुक्त बहुत से ऋषि **'जनकादयः'**-जनक इत्यादि ज्ञानीजन महापुरुष भी **'कर्मणा एव हि संसिद्धिम्'**-कर्मों के द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। परम सिद्धि माने परमतत्त्व परमात्मा की प्राप्ति। जनक इत्यादि जितने भी पूर्व में होनेवाले महर्षि हुए हैं, इस **'कार्यं**

कर्म' के द्वारा, जो यज्ञ की प्रक्रिया है, इस कर्म को करके ही **'संसिद्धिम्'**- परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। किन्तु प्राप्ति के पश्चात् वे भी लोकसंग्रह को देखकर कर्म करते हैं, लोकहित को चाहते हुए कर्म करते हैं। अतः तू भी प्राप्ति के लिये और प्राप्ति के पश्चात् लोकनायक बनने के लिये कार्यं कर्म करने के ही योग्य है। क्यों?- अभी श्रीकृष्ण ने कहा था कि प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष का कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है, फिर भी लोकसंग्रह, लोकहित व्यवस्था के लिये वे भली प्रकार नियत कर्म का ही आचरण करते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (3/21)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसके अनुसार ही करते हैं। वह महापुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, संसार उसका अनुसरण करता है। पहले श्रीकृष्ण ने स्वरूप में स्थित, आत्मतृप्त महापुरुष की रहनी पर प्रकाश डाला कि उसके लिये कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि, फिर भी जनकादि कर्म में भली प्रकार बरतते हैं। यहाँ उन महापुरुषों से श्रीकृष्ण धीरे से अपनी तुलना करते हुए कहते हैं। यथा-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (3/22)

हे पार्थ! मुझे तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य नहीं है। पीछे कह आये हैं– उस महापुरुष का समस्त भूतों में कोई कर्त्तव्य नहीं है। यहाँ कहते हैं– तीनों लोकों में मुझे कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं है तथा किंचिन्मात्र प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तब भी मैं कर्म में भली प्रकार बरतता हूँ। क्यों?-

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (3/23)

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कदाचित् कर्म में न बरतूँ तो मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बरतने लग जायेंगे। तो क्या आपका अनुकरण भी बुरा है? श्रीकृष्ण कहते हैं– हाँ!

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ (3/24)

यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं **'संकरस्य'**-वर्णसंकर का करनेवाला होऊँ तथा इस सारी प्रजा का हनन करनेवाला, मारनेवाला बनूँ।

स्वरूप में स्थित महापुरुष सतर्क रहकर यदि आराधना-क्रम में न लगे रहें तो समाज उनकी नकल करके भ्रष्ट हो जायेगा। महापुरुष ने तो आराधना पूर्ण करके परम नैष्कर्म्य की स्थिति को पाया है। वे न करें तो उनके लिये कोई हानि नहीं है; किन्तु समाज ने तो अभी आराधना आरम्भ ही नहीं की। पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिये ही महापुरुष कर्म करते हैं, मैं भी करता हूँ अर्थात् श्रीकृष्ण एक महापुरुष थे, न कि बैकुण्ठ से आये हुए कोई विशेष अमूर्त भगवान। उन्होंने कहा कि- महापुरुष लोकसंग्रह के लिये कर्म करता है, मैं भी करता हूँ। यदि न करूँ तो लोगों का पतन हो जाय, सभी कर्म छोड़ बैठेंगे।

मन बड़ा चंचल है। यह सब कुछ चाहता है, केवल भजन नहीं चाहता। यदि स्वरूपस्थ महापुरुष कर्म न करें तो देखादेखी पीछेवाले भी तुरन्त कर्म छोड़ देंगे। उन्हें बहाना मिल जायेगा कि ये भजन नहीं करते, पान खाते हैं, इत्र लगाते हैं, सामान्य बातें करते हैं फिर भी महापुरुष कहलाते हैं ऐसा सोचकर वे भी आराधना से हट जाते हैं, पतित हो जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ तो सब भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकर का कर्त्ता बनूँ।

स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर तो देखा-सुना जाता है। अर्जुन भी इसी भय से विकल था कि स्त्रियाँ दूषित होंगी तो वर्णसंकर पैदा होगा; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं- यदि मैं सावधान होकर आराधना में लगा न रहूँ तो वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ। वस्तुतः आत्मा का शुद्ध वर्ण है परमात्मा। अपने शाश्वत स्वरूप के पथ से भटक जाना वर्णसंकरता है। यदि स्वरूपस्थ महापुरुष क्रिया में नहीं बरतते तो लोग उनके अनुकरण से क्रियारहित हो

जायेंगे, आत्मपथ से भटक जायेंगे, वर्णसंकर हो जायेंगे। वे प्रकृति में खो जायेंगे।

स्त्रियों का सतीत्व एवं नस्ल की शुद्धता एक सामाजिक व्यवस्था है, अधिकारों का प्रश्न है, समाज के लिये उसकी उपयोगिता भी है; किन्तु माता-पिता की भूलों का सन्तान की साधना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। **'आपन करनी पार उतरनी।'** हनुमान, व्यास, वशिष्ठ, नारद, शुकदेव, कबीर, ईसा इत्यादि अच्छे महापुरुष हुए, जबकि सामाजिक कुलीनता से इनका कोई सम्पर्क नहीं है। आत्मा अपने पूर्वजन्म के गुणधर्म लेकर आता है। श्रीकृष्ण कहते हैं– **'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।'** (15/7)- मनसहित इन्द्रियों से जो कार्य इस जन्म में होता है, उनके संस्कार लेकर जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नवीन शरीर में प्रवेश कर जाता है। इसमें जन्मदाताओं का क्या लगा? उनके विकास में कोई अन्तर नहीं आया। अतः स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर नहीं होता। स्त्रियों के दूषित होने और वर्णसंकर से कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर न होकर प्रकृति में बिखर जाना ही वर्णसंकरता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (18/48)

कौन्तेय! दोषयुक्त (अल्पज्ञ अवस्थावाला है तो सिद्ध है कि अभी दोषों का बाहुल्य है, ऐसा दोषयुक्त भी) **'सहजं कर्म'**- स्वभाव से उत्पन्न सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से आवृत्त हैं। ब्राह्मण श्रेणी ही सही, कर्म तो करना पड़ रहा है। स्थिति नहीं मिली, तब तक दोष विद्यमान है, प्रकृति का आवरण विद्यमान है। दोषों का अन्त वहाँ होगा, जहाँ ब्राह्मण श्रेणी का कर्म भी ब्रह्म में प्रवेश के साथ विलय हो जाता है।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ (योगदर्शन, 4/2)

'जात्यन्तरपरिणामः'- एक जन्म से दूसरे जन्म में बदल जाना जात्यन्तर-परिणाम है। यह प्रकृति के पूर्ण होने से होता है।

प्रकृति ने चित्त को बाँध रखा है। जिन विकारों से बाँध रखा है वे शान्त हो जायँ, आगेवाली उन्नत अवस्था पकड़ में आती जाय- चित्त का यही परिवर्तन जन्म-परिवर्तन है। इस उत्कर्ष के साथ यदि शरीर छूट गया तो उसी स्तर से जन्म होगा। पूर्व प्रकृति के शान्त होने और अग्रेतर उन्नत प्रकृति की जागृति जन्म-परिवर्तन है। चित्त की एक अवस्था से दूसरी अवस्था का परिवर्तन जन्म-परिवर्तन है।

आरम्भ में चित्तवृत्ति का धरातल मलिन होता है। साधना के आरम्भ में साधक अल्पज्ञ है। ऐसी अवस्थावाले साधक तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा करें। सेवा, समर्पण, सान्निध्य और साधन-श्रवण के प्रभाव से भजन जागृत हो जाता है; हृदय से चिन्तन की विधि जागृत हो जाती है। वही अल्पज्ञ शूद्र श्रेणीवाला साधक वैश्य श्रेणी का हो जाता है। एक प्रकृति पूर्ण हुई और दूसरी जागृत हो गयी। यह एक जन्म-परिवर्तन हो गया।

इस विधि के अनुसार लगते ही साधक दैवी सम्पत्ति का अर्जन करने लगता है। क्रमशः स्वभाव में धैर्य, शौर्य, साहस, संघर्ष झेलने की क्षमता आने लगती है तो वही साधक क्षत्रिय है। उस क्षत्रिय श्रेणी से लगा हुआ साधक विकारों को समाप्त कर ले जाता है। धारणा, ध्यान, समाधि स्वभाव में ढल जाता है, ब्रह्म में विलय की योग्यता सहज स्वभाव बन जाता है। उस समय क्षत्रिय प्रकृतिपूर्ण है, एक उन्नत प्रकृति की जागृति हो गयी। अब वही साधक ब्राह्मण है।

चित्त का एक प्रकार की जीवनचर्या से दूसरे प्रकार में परिवर्तित हो जाना, पूर्व प्रकृति का शान्त हो जाना और उन्नत प्रकृति की जागृति यही जात्यन्तर-परिणाम है। उस साधक का दूसरा जन्म हो गया। अन्त में आत्मा विदित हो जाती है, आत्मस्थिति आ जाती है। उस समय सभी श्रेणियाँ समाप्त हो जाती हैं, प्रकृति समाप्त हो जाती है - न निकृष्ट प्रकृति है न प्रकृष्ट। इस उपलब्धि से पूर्व कदाचित् शरीर छूट जाता है तो पुनः शरीररूपी वस्त्र मिलेगा, उसी स्तर की साधना रहेगी। यही परशुराम जी के वर्ण का रहस्य है।

इसी आशय को संत कबीर जी अपने बीजक (शब्द 8) में कहते हैं-

सन्तो! आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया।
का मकसूद मच्छ कछ न होई, शंखासुर न सँहारा।
है दयाल द्रोह नहीं वाके, कहहु कौन को मारा।
वै कर्त्ता नहिं बराह कहावे, धरनि धर्यो नहिं भारा।
ई सब काम साहेब के नाहिं, झूठ कहै संसारा।
खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई।
हरणाकुश नख ओद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।
बावन रूप न बलि को जाँचे, जो जाँचे सो माया।
बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया।
परसुराम क्षत्री नहिं मारे, ई छल माया कीन्हा।
सतगुर भेद भगति नहिं जाने, जीवहि मिथ्या दीन्हा।
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल पखान नहिं बन्धा।
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा।
गोपी ग्वाल न गोकुल आया, कर्ते कंस न मारा।
है मेहरबान सबहिन को साहेब, ना जीता ना हारा।
वै कर्ता नहिं बौध कहावै, नहीं असुर संहारा।
ज्ञान हीन कर्ता के भरमें, माये जग भरमाया।
वै कर्ता नहिं भये कलंकी, नहिं कालिंगहि मारा।
ई छल बल सब माया कीन्हा, जत्त सत्त सब टारा।
दस अवतार ईश्वरी माया, कर्त्ता कै जिन पूजा।
कहहिं कबीर सुनो हो संतो, उपजै खपै सो दूजा।।

(बीजक, शब्द प्रकरण, शब्द 8)

सन्तो! आवै जाय सो माया॥
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया॥
का मकसूद मच्छ कछ न होई, शंखासुर न सँहारा॥

संत कबीर कहते हैं कि, सन्तो! जो भी उत्पन्न और विनष्ट होता है, वह सब माया है। उस परमात्मा का न कोई पालनहार है न कोई उसे मारनेवाला है। वह कहीं आता-जाता नहीं, सर्वत्र है। वह कोई योजना नहीं बनाता। उनका कोई मकसद नहीं, कोई योजना नहीं। **'न मच्छ न कच्छ होई'**– वह न मछली होता है, न कछुआ होता है, **'शंखासुर न सँहारा'**– शंखासुर एक राक्षस था। वह शंख के अन्दर बैठकर विश्राम किया करता था इसीलिए किसी की पकड़ में नहीं आता था। भगवान श्रीकृष्ण गये तो वहीं छिपा था। शंखासुर बड़ा प्रबल था। भगवान ने उससे कहा कि तुम लोगों को पकड़-पकड़कर खा जाते हो, अब ये सब बंद करो। तो वह श्रीकृष्ण के ऊपर विविध प्रकार के प्रयोग करने लगा। सब प्रयोग शान्त हो गये। अन्त में भगवान ने अग्नि बाण मारा। वह शंख से बाहर आया, उसने भगवान से युद्ध किया और मारा गया। भगवान ने उस शंख को अपना लिया। **'है दयाल द्रोह नहीं वाके, कहहु कौन को मारा।'** वह परमात्मा परम दयालु है। उनमें द्रोह है ही नहीं तो उन्होंने किसको मारा!

रावण के दो दूत सुक और सारण थे। वे राम के सेना की जानकारी लेते समय पकड़े गये। भगवान ने कहा– तुम छिपकर क्या कर रहे हो? वे बोले– भगवन्! हम जाँच कर रहे थे कि आपके पास कितनी फौज है? भगवान ने कहा– छिपकर जाँच करने की क्या जरुरत है? भगवान बोले– अंगद! जाओ, इन्हें सब दिखा दो। अंगद ने सब दिखा दिया। भगवान ने कहा– अब तुम जाओ, जो कुछ देखा है बता देना। और कुछ देखना है तो बोलो? वे बोले– कुछ नहीं देखना है। आप जैसा शत्रु दुनिया में असंभव है। भगवान ने कहा– मैं किसी का शत्रु नहीं हूँ। लोगों की भावना शत्रु मान रही है, न कि मैं शत्रु हूँ।

उन्होंने रावण से जाकर कहा– राजन्! सीता लौटा दो अन्यथा एक सीता की वजह से सर्वनाश हो जायेगा, और सीता का कुछ नहीं बिगड़ेगा।

यहाँ जो बन्दर आया था वह तो यहाँ अकेला था, उस स्तर के लाखों बन्दर हैं वहाँ पर। एक-एक बन्दर आपको आमने-सामने ललकार सकता है। रावण मन में तो बहुत खुश हुआ। वह यही सुनना चाहता था कि लोग कहते हैं 'वे भगवान हैं', ये भी कह रहे हैं 'भगवान हैं'। किन्तु प्रत्यक्ष में वह बड़ी जोर से बिगड़ा– नालायको, जाओ, उन्हीं को शिक्षा दो। दो-दो लात मारा और भगा दिया सीधे राम के पास– **'नाइ चरन सिर चला सो तहाँ। कृपासिंधु रघुनायक जहाँ॥'**

दोनों भगवान राम से बोले– भगवन्! हमने समझाया तो रावण ने लात मारकर हमें भगा दिया। हम राक्षस है भी नहीं। **'ऋषि अगस्त कर श्राप भवानी। राक्षस भये रहे मुनि ग्यानी॥'** अगस्त के श्राप से हम राक्षस हो गये। हम मुनि थे, ज्ञानी थे। **'बन्दि राम पद बारहिं बारा। मुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा॥'** सुक और सारण दोनों जहाँ से मुनि थे और राक्षस बने थे, अगस्त के श्राप का प्रभाव हट गया, मुनि स्वरूप में आ गये और जिस आश्रम में भजन करते थे, उस आश्रम में चले गये। भजन में जो कमी थी, उसे पूरा करने में लग गये। भगवान किसी के शत्रु होते ही नहीं। वे कर्ता **'है दयाल द्रोह नहीं वाके, कहहु कौन को मारा।'** फिर बताओ किसको मारा उन्होंने!

वै कर्ता नहिं बराह कहाये, धरणि धरयो नहिं भारा॥
ई सब काम साहेब के नाहीं, झूठ कहैं संसारा॥
सन्तो! आवै जाय सो माया॥

वे कर्ता बराह नहीं कहलाये, **'धरणि धरयो नहीं भारा'**– पृथ्वी का भार उठाये नहीं। पृथ्वी को हिरण्याक्ष ने डुबा दिया समुद्र में। दुनिया तो ज्यों-की-त्यों बसी थी। कौन-सी पृथ्वी को डुबा दिया? वास्तव में **'धड़ धरती का एकै लेखा, जो बाहर सो भीतर देखा।'** धड़ माने यह शरीर, धरती माने यह पृथ्वी – दोनों का एक ही माप-तोल है। जो कुछ बाहर दिखाई दे रहा है, सब भीतर देखा। इस शरीर के अन्दर, मन के अन्तराल में सब विद्यमान है। आसुरी सम्पद्, प्रकृतिमयी दृष्टि हिरण्याक्ष मन को, बुद्धि को,

चित्त, अहंकार व इन्द्रियों को संसाररूपी समुद्र में डुबा देता है। हिरण्यगर्भ सृष्टि है, हिरण्यगर्भमयी दृष्टि हो जाती है तो मन ही पृथ्वी को डुबा देता है, और ब्रह्म की राह पकड़ने पर वह लौट आता है। यह काम भगवान का नहीं है। दैवी सम्पद् में ब्रह्म की राह पकड़ाकर पृथ्वी को निकाल लिया। **'ई सब काम साहेब के नाहीं'**– यह काम साहब के नहीं है, **'झूठ कहै संसारा'**– संसार व्यर्थ में उल्टा-सीधा बोलता है। जो कुछ कहता है संसार, झूठ कहता है। भगवान का यह काम है ही नहीं।

खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतीजे सब कोई।
हरणाकुश नख ओद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई॥
सन्तो आवै जाये सो माया॥

श्वास अभ्यास करते-करते अचल स्थिर ठहर जाती है। गुरु महाराज कहते थे– जैसे सूखा बाँस गाड़ दे, हिले न डुले। जब श्वास का भजन करते-करते श्वास स्थिर हो जाये, न भला संकल्प उठे न बुरा – यही स्तम्भ है। जब श्वास की गति स्थिर हो गयी, तहाँ फिर योगाग्नि इसमें प्रवाहमान हो जाती है। राक्षस विषयाग्नि फैलाते हैं। प्रह्लाद से हिरण्यकश्यप ने कहा– छुओ इसको। प्रह्लाद ने देखा, एक बारीक चींटी उस पर चढ़ रही है, उतर रही है। अग्नि जब इसको नहीं जला सकती, हमें कैसे जला देगी! उसने दौड़कर स्तम्भ को पकड़ लिया।

श्वास जब बांस की तरह स्थिर हो जाये, हलन-चलन से रहित, न भले उद्वेग उठते हैं न बुरे, न मायिक तरंग उठती है, न आध्यात्मिक। श्वास हो गयी शान्त। ॐ, ॐ, ॐ.... अचल स्थिर ठहर जाती है। तहाँ चित्त इतना सूक्ष्म हो जाता है जितनी बारीक वाली चींटी, लेकिन जिन्दा जरुर है। चींटी ऐसे स्तम्भ पर चढ़ती दिखाई पड़ी तो प्रेमरूपी प्रह्लाद प्रेमास्पद प्रभु के चरणों में प्रेम की ऐसी डोरी लगी, मन इतना सूक्ष्म हो गया बारिक वाली चींटी तो दौड़कर पकड़ लेता है। तब हिरण्यकश्यप ने कहा– कहाँ है तुम्हारा भगवान्? प्रह्लाद बोले– पिताश्री, वह आपके अन्दर भी हैं, इन असुरों में भी हैं, पृथ्वी में भी हैं, आकाश में भी हैं। वह बोला– इस खम्भे में है? प्रह्लाद बोले– हाँ,

इस खम्भे में भी हैं। हिरण्यकश्यप ने कहा– मैं अभी इसे तोड़ देता हूँ।

हिरण्यकश्यप हिरण्यगर्भ प्रकृति है। उसी में कर्तव्य समझता था। वह भाग-भाग उधर ही अपना कल्याण समझता था। उसने खम्भे में गदा मारा। खम्भे से नरसिंह भगवान निकले। अब तक वह नर था, मनुष्य था। मन का निरोध हो गया तो मनुष्य से सिंह हो गया, नर से नारायण हो गया और हिरण्यकश्यप सदा के लिये मारा गया, सांसारिक दृष्टि समाप्त हो गयी। प्रेमरूपी प्रह्लाद सदा के लिये विजयी हो गया, तीनों लोकों में हरिभगति की लहर छा गयी।

हिरण्यकश्यप की बहन होलिका अग्नि में नहीं जलती थी। जहाँ चाहे आग जला दे, आग में फूँक दे लोगों को। वह बोली– भैया, इसमें आग लगाओ, मैं निकल जाऊँगी। मेरा आग कुछ नहीं करती, मैं अग्नि से सुरक्षित हूँ। तुम्हारा यह कंटक जल जायेगा। होलिका बैठ गयी प्रह्लाद को गोद में लेकर। बुआ की गोद में बैठने से उसको कौन लाज थी, ताव से बैठ गया। वह जान रहा था, आग जल रही है; उससे मतलब। यह काम भगवान का। होलिका चिल्लाई– अरे, मैं जल रही हूँ, इसका तो कुछ नहीं बिगड़ रहा है। होलिका जलकर राख हो गयी, प्रहलाद सुरक्षित थे। अविद्यारूपी होली। **'होली अविद्या फूँक के हो गये गुप्तानन्द'**– जो गोपनीय आनन्द है उस आनन्दमय को पा गये। **'समझे कोई सुघड़ विवेकी क्या समझे मतिमन्द'**– कोई सुघड़ विवेकी ही समझ पाता है। मतिमन्द भला क्या समझे! यह संसारमयी दृष्टि हिरण्याक्ष व हिरण्यकश्यप सदा के लिये शान्त हो गये। ये भगवान को मिटाने का काम करते हैं। भगवान ही एक ऐसी सत्ता है जो कभी नहीं मिटती। लेकिन असुर तो असुर! सोचते हैं, मेरे समान कौन है?

'हरणाकुश नख ओद्र बिदारा, सो कर्ता नहिं होई।'– जिसने नख से उदर बिदारा, वह कर्त्ता भगवान नहीं। हिरण्यकश्यप न दिन में मरता है, न रात में मरता है, न पशु से न पक्षी से। भगवान न पशु है, न पक्षी है, न आदमी है। वह अमूर्त है, अरूप है, अचिन्त्य है, अगोचर है। जब मूर्ति ही नहीं है तो अरूप है, अनन्त है, असीम है, शाश्वत है, सनातन धाम है।

भगवान के इस स्वरूप ने जहाँ स्पर्श किया तो हिरण्यकश्यप का भी कल्याण हो गया। भक्त प्रह्लाद उसके मिटते ही भगवत्स्वरूप में स्थित हो गया।

हिरण्यकश्यप भगवान का सर्वनाश करना चाहता था। भगवान एक मासूम बच्चे को छू दें तो सृष्टि में उसका नाश करनेवाला कोई नहीं। प्रहलाद को... एक लड़के को हजारों तरीके से मार रहा था, अपने ही उलझकर मर गया। प्रह्लाद कभी नहीं डरा। समुद्र में फेंकना है तो चलो। जो फेंकनेवाला ले जा रहा था, उससे बोले– तुम क्यों फेंक रहे हो? वह बोला– तुम पापी हो। प्रह्लाद बोले– क्यों? उसने कहा– तुम हिरण्यकश्यप का जप नहीं कर रहे हो। प्रह्लाद बोले– तुम भी कहो 'राम, राम'! उसने कहा– मैं नहीं कहूँगा। प्रह्लाद बोले– क्या नहीं कहोगे? उसने कहा– मैं 'राम' नहीं कहूँगा, मैं 'राम' नहीं कहूँगा। प्रह्लाद बोले– राम, राम, राम... बस हो गया तुम्हारा कल्याण।

'वामन रूप'– बावन अंगुल के भगवान बनकर आ गये। **'बावन रूप न बलि को जाँचे, जो जाँचे सो माया।'**– वामन रुप धारण करके भगवान पहुँच गये। वास्तव में देव माता अदिति भगवान विष्णु के पास गयी थी– मेरे लड़के मारे-मारे फिर रहे हैं, प्रभो! आप इस बलि को मार डालें। भगवान बोले– वह मेरा भक्त है, मैं अपने भक्त को नहीं मार सकता। अदिती बोली– हमारे लड़कों को राज्य दिलवा दें। भगवान ने कहा– हाँ, यह हो सकता है। भक्त की मैं रक्षा करता हूँ, न कि मारता हूँ। अब अदिति बहुत खुश हुई। जब भगवान ही अवतार लेंगे तो बाकी ही क्या है। जब वह लड़का पैदा हुआ तो बहुत छोटा था। कई वर्ष हो गया बड़ा ही न हो, बावन अंगुल ही लम्बे थे। अदिति सिर पीटने लगी– हे भगवान! यह क्या उद्धार करेगा! देवताओं को कैसे गद्दी पर बैठायेगा, ये तो खुद ही बावन अंगुल का है। फिर उसे याद आया कि कितने ही अंगुल का हो, हैं तो भगवान। वह बोली– हमारे लड़कों को... इन्द्रादि को राज्य दिलाओ या उस बलि को मारो। भगवान वामन ने कहा– वह भक्त है, कैसे मार दूँ? हाँ, बड़े भैया को राज्य दिलवा सकता हूँ। अदिति ने कहा– जाओ, दिलाओ राज्य।

भगवान वामन ने बड़ा-सा छाता लगा लिया, कमण्डल ले लिया और बलि के यहाँ उस समय पहुँचे, जब बलि आहुति देने जा रहा था। भगवान वामन बोले– भिक्षाम् देहि, भक्त भिक्षाम् देहि। बलि उठकर खड़े हो गये। शुक्राचार्य बोले– मत जाओ, चिल्लाने दो। विष्णु कोई वेश बनाकर यज्ञ विध्वंस करने के लिए आया होगा। हमारे किये-कराये पर पानी फिर जायेगा। बलि बोले– गुरुदेव! याचक यदि दरवाजे पर बैठा है, उसकी इच्छापूर्ति न की जाये तो भी तो यज्ञ सफल नहीं होता। और यदि भगवान आये हैं तो अहोभाग्य। शुक्राचार्य ने सोचा– चेला तो सनक गया।

बलि ने बाहर जाकर देखा तो एक बावन अंगुल का बटुक। भगवान वामन बोले– भक्त भिक्षाम् देहि। बलि बोले– कहिये महाराज! आपको क्या चाहिये? वामन बोले– साढ़े तीन पग पृथ्वी। बलि ने कहा– आपके पाँव छोटे-छोटे हैं, यह तो यहीं पूरा हो जायेगा। यह तीनों लोक हमारे हैं, आप जो चाहे मांग लीजिए। भगवान वामन बोले– नहीं, ब्राह्मण को संतोषी होना चाहिये, लोभी नहीं होना चाहिये। बलि ने कहा– मेरा सम्मान भी तो रखें। इतनी सी जमीन दूँगा तो मेरा भी अपमान होगा। भगवान वामन ने कहा– तुम्हारे सम्मान की रक्षा हम करेंगे।

जब जमीन नापने को हुए तो शुक्राचार्य पहुँच गये, बोले– मत दे, यह देखने को ही नाटा है। यह स्वयं भगवान हैं। वामन रूप धारण करके यहाँ आये हैं। यह विष्णु हैं, इन्हें कुछ मत दे। बलि बोले– गुरुदेव! क्या स्वयं विष्णु भगवान मेरे दरवाजे पर आये हैं, अहोभाग्य। शुक्राचार्य बोले– यह तीन पग में तेरी सारी पृथ्वी ले लेंगे, तू कंगाल हो जायेगा। बलि बोले– भगवान आये हैं, भगवान सब लें तो अहोभाग्य हमारा। मैं जरूर दूँगा।

शुक्राचार्य ने सोचा कि चेला तो पगला गया। बलि कमण्डल से जल लेकर संकल्प करने जा रहे थे, कमण्डल की नली में शुक्राचार्य बैठ गये। पानी गिरता ही न था। बलि संकल्प कर रहे थे– ॐ नमो भगवते वासुदेवाय... मैं तीन पग में तीनों लोक और आधा पग में अपना शरीर

वामन विप्र को भेंट कर रहा हूँ। कमण्डल से पानी नहीं गिर रहा था, तब वामन भगवान बोले– राजन्! लगता है नली में कचड़ा आ गया है। वामन कुश की चटाई लिये थे, उन्होंने उसमें से एक तिनका निकाला और उस नली में ठोंक दिया। शुक्राचार्य एक आँख से देख रहे थे उसी नली में बैठकर, देखें, अब क्या करता है! तिनका सीधा आँख में लगा, आँख फूट गयी। तब वह कमण्डल से बाहर आ गये और बोले– बस बेटा, आखरी दाँव मैं लगा चुका, अब जो भाग्य में लिखा है, वही होगा। बलि बोले– गुरुदेव! आपने क्यों आँख फोड़वा लिया? शुक्राचार्य बोले– बेटा, हमारे किये-कराये पर पानी फेर रहे थे इसलिये जरूरी लगा हमें।

अब भगवान ने शरीर बढ़ाया, बोले– तुम्हारा सम्मान रखेंगे, तुम्हारी जैसी कीर्ति है, उसके अनुरूप लेंगे। उन्होंने एक पग में पृथ्वी माप लिया, दूसरे में स्वर्ग वगैरह माप लिया, तीसरे में साकेत धाम ले लिया, तीनों लोक ले लिया। अब भगवान वामन बोले– राजन्! आधा पग जमीन शेष है, तुम्हारा बचन झूठा हो गया। हमने साढ़े तीन पग माँगा था। बलि बोले– भगवन्! शरीर भी तो पृथ्वी का एक अंग है। उस आधा पग में मेरे शरीर को माप लीजिये, इसके ऊपर अपना चरण रख दीजिये। भगवान जहाँ चरण धरने चले तो शुक्राचार्य बोले– मूर्ख, मेरे किये-कराये पर पानी फिर जायेगा। मैंने इतना बड़ा यज्ञ इन्द्र को परास्त करने के लिए किया। बलि बोले– गुरुदेव! मैंने वचन दिया है, उसे तो अवश्य पूरा करूँगा।

फिर आधा पग में वामन ने शरीर भी माप लिया। भगवान अपने स्वरूप में आ गये। जो भगवान का सहज स्वरूप है, नारायण स्वरूप में आ गये। आचार्य शुक्राचार्य ने श्राप दिया था, जा तू कंगाल हो जायेगा। बलि गुरु के श्राप से नहीं डरा। भगवान बोले– बलि! तुम महान् हो, वर मांगो। बलि बोले– भगवन्! मैं तो सब कुछ पा गया। जब प्रभु का चरण मेरे सिर पर है, तब बाकी क्या रह गया!

भगवान ने कहा– बलि! फिर भी मांगो। बलि बोले– भगवन्! मैं जहाँ भी रहूँ उस घर के जितने दरवाजे हों, हर दरवाजे पर आप हाजिर रहें। सुबह

आँख खुले, जिस दरवाजे में देखूँ वहाँ दिखाई पड़ें। भगवान बोले– तथास्तु। जाओ, तुम्हारे पितामह प्रह्लाद सुतल लोक में निवास कर रहे हैं, तुम भी सुतल लोक में उनके साथ निवास करो।

बलि दिव्य लोक में पहुँच गये। उनके भवन में चौदह दरवाजे थे। **'सीस महल के दस दरवाजे, न जाने खिड़की कौन खुली।'** पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय... चित्त बिल्कुल पवित्र हो जाता है, तो कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय ये बिल्कुल शुद्ध हो जाती हैं। **'सीस महल'**– शीशे का महल। जिधर से देखो, उधर से दिखाई पड़े। माया है ही नहीं। माया का रुकावट वाला कोई कचरा नहीं। केवल भगवान् और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार.... दस और चार चौदह, चार अंतःकरण हैं। दस इन्द्रिय और चतुष्ट अंतःकरण– ये चौदह दरवाजे हैं। और आँख खुली तो मन की ओर झांका तो वो भी बिल्कुल भगवान दिखाई पड़े, बुद्धि की देखा तो भगवान दिखाई पड़े, आँख खुली तो भगवान दिखाई पड़े, कान ने सुना तो भगवान दिखाई पड़े। सभी दरवाजों पर भगवान। जब बलि सुबह आँख खोले, इधर मुँह करके और तुरन्त घूम जाये दूसरी ओर तो भगवान् लाठी लेकर दौड़ लगावें और उसकी आँख के सामने खड़े रहें। भगवान डंडा लेकर हाँफते-हाँफते दौड़ रहे थे। बलि देखना चाहते थे कि भगवान हर दरवाजे पर हैं कि नहीं? चौदहों दरवाजों पर भगवान् तैयार।

नारद पहुँच गये बैकुण्ठ। लक्ष्मी जी बोलीं– देवर्षि! बैकुण्ठनाथ दिखाई नहीं दे रहे? नारद बोले– आप निश्चिन्त रहें, आजकल वह बहुत अच्छी सेवा पा गये हैं। अब भविष्य में आपको कोई दुःख नहीं होगा। लक्ष्मी बोलीं– भगवान और सेवा? भगवान और सेवा पा गये, वह कैसे? नारद बोले– सुतल लोक में बलि के घर के चौदह दरवाजे हैं, वे चौदहों दरवाजों पर दौड़-दौड़ कर पहरा देते हैं। लक्ष्मी जी चली नारद के साथ। जहाँ भगवान् की ओर बढ़ी तो डंडा लेके दौड़े। पहरेदार तो पहरेदार। भगवान जो पहरेदार थे, उन्होंने लक्ष्मी जी को डंडे से मारने के लिये दौड़ाया तो भागी। लक्ष्मी बोलीं– नारद, अब क्या करें? नारद ने कहा– जिसके हर दरवाजे पर भगवान् आ

गये हों तो आप अन्दर जा सकती हैं। लक्ष्मी जी चली गयी बलि के महल के अन्दर।

जिस दिन से लक्ष्मी जी ने महल के अन्दर प्रवेश किया, महल का सब दृश्य बदल गया। सब रत्नजड़ित दीवारे, स्वर्ण तो साधारण वस्तु है। इतने में आ गया रक्षाबन्धन! नारद योजना बनाने में कुशल थे। उन्होंने कहा– लक्ष्मी जी, रक्षाबन्धन आ रहा है, आप बलि को रक्षा बाँध देना। जब वह कहें, बहनजी, आपको क्या चाहिये? तो आप भगवान को माँग लेना। लक्ष्मी बोलीं– उपाय तो ठीक है।

जब रक्षाबन्धन आया, सभी बहनें रक्षा बाँध रही थीं। जिसने जो दान मांगा, सबको मिल रहा था। जब लक्ष्मी जी आयीं तो बलि ने कहा– आप पूर्णकाम हैं। आपने जब से इस घर में चरण रखा है, तब से पूरा घर और सब कुछ जगमगा उठा है। शान्ति की लहर आ गयी है, आपको देने लायक हमारे पास ऐसा कुछ भी नहीं है, लेकिन भाई का दायित्व होता है देना, बहन का दायित्व है लेना, इसलिये तुम जरूर कुछ मांगो। लक्ष्मी बोलीं– भैया, बहन क्या मांग सकती है! भैया सकुशल रहें, सदा प्रसन्न रहें, इसके अतिरिक्त बहन मांग ही क्या सकती है! बलि ने कहा– फिर भी कुछ तो माँगो? लक्ष्मी बोलीं– भैया, यह जो डंडा लेकर पहरा दे रहा है, इस सेवक को दे दो। बलि बोले– अच्छा-अच्छा, आप भी चली आयीं। बलि ने भगवान को बुलाया और बोले– प्रभो! सेवक के लिये आपको क्या-क्या वेष धारण करना पड़ता है! आपकी शोभा वहीं है बैकुण्ठ में। आपकी तो कृपा, करुणा दृष्टि ही काफी है हमलोगों के जीवन के लिये। ससम्मान दोनों को विदा कर दिया। भगवान पहुँच गये बैकुण्ठ, लक्ष्मी अपना भैया की राखी का फल पा गयी। इसलिये भगवान् किसी के नौकर नहीं। भक्त की भावना का आदर करते हुये आगे बढ़ते रहते हैं। इसलिये **'बावन रूप न बलि को जाँचे, जो जाँचे सो माया'।** यह भी साधना का एक स्तर है। मायिक क्षेत्र में माँगना और देना होता है। **'बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया।'**– संसार में सबको माया ही भ्रम में डालती है।

परशुराम क्षत्री नहिं मारे, ई छल माया कीन्हा।
सदगुरु भेद भगति नहिं जाने, जीवहिं मिथ्या दीन्हा।
सन्तो आवै जाय सो माया॥

है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया॥
सन्तों आवै जाय सो माया॥

काल का एक अर्थ होता है मौत। काल का दूसरा अर्थ होता है समय। भगवान के ऊपर समय का बन्धन नहीं है। वह सदैव एकरस हैं। यह तो जीवों के लिये है कि **'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुण घेरा॥'**

परशुराम ने किसी क्षत्रिय को नहीं मारा। यह छल माया ने किया है। वास्तव में यह योगिक शब्दकोश है।

परशुराम रामचरितमानस के एक पात्र हैं। परशुराम के पितामह ने गाधि नरेश के लिये एक चरु दिया कि वह राजकाज देखे, क्षत्रिय संस्कार डालकर; और अपने लिये एक, कि वह भजन करे, ब्रह्मर्षि हो, ब्राह्मण हो, सबका कल्याण करे। ब्राह्मण एक स्थिति है। सत्यवती की माता ने सोचा, हर लोग अपने लिए अच्छा पुत्र चाहते हैं। लगता है, बाबाजी ने अपने लिये अच्छा चरु बनाया होगा, तो वह बोली बिटिया से– मैं तेरी माँ हूँ, मेरा तुझ पर अधिकार है। तू ऐसा कर, जो तेरे लिये चरु बनाया है, वो हमे दे दे; और जो हमारे लिये बनाया है, उसे तू ले ले। चरु बदल लिया।

ऋषि जब जंगल से भजन करके लौटे तो दिव्यदृष्टि से देख लिया। वह पत्नी से बोले– तुम्हारे उदर में तो क्षत्रिय चरु पड़ा हुआ है। हमने वैसा ही बनाया था, गाधि नरेश के लिये राजकाज चलावे। वह रोने लगी– हमें ब्राह्मण बालक चाहिये।

गाधि नरेश की लड़की थी सत्यवती और इक्ष्वाकु कुल की थी रेणुका। रेणुका के एक-एक करके तीन-चार पुत्र हो चुके थे। अन्ततः वह चरु रेणुका के पास पहुँच गया। यह पाँचवाँ पैदा हुआ। इसने माँ को मार डाला, मौसा को भी...इतिहास यही है। **'द्विज देवता घरहि के बाढ़े'**–अपने वंश को,

परिवारवालों को मारा, बाहर वाले एक को भी नहीं मारा। कथायें तो पीछे कथावाचक लोग जोड़ देते हैं।

'परशुराम क्षत्री नहीं मारे, ई छल माया कीन्हा।' भगवान राम के ऊपर जब क्रोध किया तो बोले– तुमने अपना नाम राम क्यों रखा? राम बोले– भगवन्! आपका परशु समेत परशुराम... इतना बड़ा नाम। मेरा एक छोटा सा नाम – राम। परशुराम बोले– अच्छा, राम है तो ये धनुष उठा। ले हमारा धनुष, उठा ले, प्रत्यंचा चढ़ा ले। धनुष अनुसंधान कर ले तब मैं तुम्हें युद्ध प्रदान करुँगा। वह विष्णु भगवान का धनुष था। राम विष्णु के अवतार थे। उनके हाथ में आते ही धनुष अपने आप चढ़ गया।

अब परशुराम घबराये। राम ने कहा– आपके शरीर को हम नहीं मार सकते क्योंकि आप ब्राह्मण हैं। हाँ, आपने अब तक जो लोक अर्जित किये हैं, और वैष्णवी तेज, वह सब ले लेता हूँ, और मन के बराबर चलने की गति को ले लेता हूँ।

परशुराम बोले– राम! मन के बराबर चलने की गति मत लो। उसे ले लोगे तो मैं सूर्यास्त से पूर्व महेन्द्राचल नहीं पहुँच पाऊँगा। पृथ्वी दान करते समय कश्यप ऋषि ने कहा था– हमें दान दी हुयी पृथ्वी पर तुम रात्रि-निवास नहीं कर सकते। इसलिये हमारे मन के बराबर चलने की गति न लें। राम ने नहीं लिया। वैष्णवी तेज ले लिया, परशु वाला तेज ले लिया। परशुराम ने फिर भगवान् की परिक्रमा किया और अपने धाम की और जाने लगे तब रामजी ने भी मर्यादा के अनुसार ब्राह्मण को प्रणाम किया। उन्होंने फिर परिक्रमा किया और चले गये।

परशुराम चले गये लेकिन फरसा चलाने वाली विद्या तो लौटकर नहीं आयी। परशुराम तीर्थों में गये। उनके पितरों ने कहा– हताश मत हो। भृगु तीर्थ में जाओ, वहाँ अवगाहन करो, तुम्हारी शक्ति लौट आयेगी। परशुराम की शक्ति लौट आयी लेकिन उस शक्ति के द्वारा कभी किसी को नहीं मारा। इसलिये **'परशुराम क्षत्री नहीं मारे, ई छल माया कीन्हा।'**

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र – ये जातियाँ नहीं हैं। शास्त्र विश्व के लिए होता है, मानव मात्र के लिए। भजन की विधि – **'मोह निसाँ सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।।'** गीता कहती है– **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'**– इस जगतरूपी रात्रि में सभी प्राणी अचेत पड़े हैं, दीर्घ कोमा में, अनन्त काल की गाढ़ निद्रा में। केवल गीतोक्त साधना समझकर जहाँ संयम थोड़ा सधा, केवल संयमी पुरुष जाग जाता है। और दुनिया सोयी है। जागृति के प्रथम चरण में वह अल्पज्ञ होता है – शूद्र। लेकिन अनन्त सृष्टि पड़ी है। किसके ऊपर से सर्प जा रहा है, किसके ऊपर छिपकली पड़ी है?–किसी को मालूम है? सोये हुए आदमी को क्या मालूम! जागा है, वह सब देख रहा है। अनन्त सोई सृष्टि में वहीं एक जागा हुआ है। जागृति के प्रथम चरण में वह शूद्र होता है। शूद्र भजन की एक अवस्था है, बाहर समाज का कोई प्राणी नीच नहीं है। शूद्र माने अल्पज्ञ, छोटा। वह सेवा करे सन्तों की, सद्गुरु की। सेवा-शरण-सान्निध्य से विधि जागृत हो गयी तो वही है वैश्य। अब संसार के द्वंद्व में से आत्मिक सम्पत्ति स्थिर सम्पत्ति है। वही आपका निज धन है। और तो धन यहीं पड़ा रहेगा। असंख्य लोगों ने धन इकट्ठा किया, छोड़कर मर गये। लाखों किलें खाली पड़े हैं, सब छोड़कर मर गये। अभी एक राजकुमार हमारे आश्रम में आते हैं। उन्होंने कहा– महाराज, भारत के, पाकिस्तान के सभी किलों से मेरा किला बड़ा है। हम बोले– तो यहाँ क्यों चले आये? वह बोले– हमलोग चार भाई सगे थे। आपस की फूट की वजह से भागकर आना पड़ा। राज चला गया पर पता नहीं क्यों हम लोग लड़ रहे हैं! हमने कहा– कोई भाई कामयाब है? वह बोले– एक कैप्टन है। हमने कहा– उस कैप्टन को सब दे दो। अभी उसका नाम है...।

इससे उन्नत अवस्था क्षत्रिय और ब्राह्मण की है। उससे भी आगे परमात्म-दर्शन, स्पर्श, प्रवेश और स्थिति के समय वह साधक ब्राह्मण भी नहीं रह जाता किन्तु उस तत्त्वदर्शी को विप्र के अतिरिक्त कहा भी क्या जाय?

सद्गुरु के अन्दर जो वस्तु होती है, उसका भेद, भक्ति का भेद नहीं जानते इसलिए जीव को लोग मिथ्या ज्ञान दे देते हैं। यहाँ गुरुओं की कतार

लगी है, उलटा-सीधा लोग कुछ पकड़ा देते हैं।

सिरजनहार न ब्याही सीता, जल पखान नहिं बन्धा।
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरे सो अन्धा।
सन्तो, आवे जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहीं वाके, ना कहूँ गया न आया।
सन्तो, आवन जावन माया।

उस सिरजनहार ने '**न ब्याही सीता**', जल पर पाषान का पुल नहीं बाँधा। यह तो कथा कहने का तरीका है। जब पुल तैयार हो गया तो तुलसी कहते हैं, पुल क्या था!

नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ भवसागर तरहिं।
सुनहु भानुकुलकेतु, जामवन्त कर जोरि कह॥

जामवन्त ब्रह्मा के पुत्र थे, सबसे बड़े ज्योतिषाचार्य, सबसे बड़े ज्ञानी। उन्होंने कहा– नाम ही सेतु है।

बच्चे तो रोज ही पैदा होते हैं, पृथ्वी से कोई पैदा होता है क्या? अयोध्यावाले मिथिलावालों से विनोद करते हैं, तो अयोध्या वालों को जब पायेंगे तो– 'जाना जाना हो रामजी सरकार, मैंने आज जाना।' क्या जाना? 'पिता तुम्हारे जनम के हिजड़े, कइसन जनम तोहार, मैंने आज जाना।' दशरथ के लड़के कहाँ हो रहे थे? तब अयोध्या वाले बोलेंगे– हमारे यहाँ तो माता-पिता की परम्परा से जनम होता है, चाहे मंत्र से हो, तंत्र से हो, खीर से हो; लेकिन तुम्हारे यहाँ तो सब भूईफोड़ पैदा होते हैं। सीता जमीन से निकली। फिर बाद में दोनों खूब हसेंगे ताली बजाकर।

वास्तव में शक्तिरूपी सीता। शरीररूपी पृथ्वी में सबके अंदर शक्ति विद्यमान है। भजन करोगे तो शक्ति खट् जागृत हो जायेगी। जागृत होकर प्रत्यक्ष हो जायेगी, फिर साथ रहेगी। राक्षसों के पास यह कभी नहीं रहती। जब लक्ष्मण इधर-उधर लकड़ी वगैरह लेने गये, तब भगवान राम सीता से बोले– '**सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥**'– हे सीते! व्रत में रुचि रखनेवाली सीते! मैं कुछ ललित, प्यारी

लगने वाली लीला करने जा रहा हूँ। तब तक **'तुम्ह पावक महुँ करहुँ निबासा। जब लगि करहुँ निसाचर नासा।।'**– जब तक लीला पूरी न हो जाय, तुम अग्नि में निवास करो। ललित नर-लीला क्या थी? निशाचरों का नाश! जब तक मैं निशाचरों का नाश न कर लूँ, तुम अग्नि में निवास करो। **'तुम्ह पावक महुँ करहुँ निवासा। जब लगि करहुँ निसाचर नासा।।'** सीता! इस अग्नि में निवास करो। किसी को आग में रख दोगे तो जियेगी? कहते हैं– भगवान राम ने नर-लीला की थी, यह नर-लीला है? कोई अपनी औरत को आग जला के कह दे– इसमें बैठो, हम आ रहे हैं, युद्ध जीतकर। संभव है? कभी नहीं। लेकिन सीता अग्नि में निवास करने चली गयीं। और ललित लीला क्या थी? ललित माने बहुत प्यारी लगने वाली, सुहावनी, एकदम आह्लादित कर देनेवाली लेकिन खून की नदी बह गयी, आँसुओं की धारायें बह गयी। यह ललित है कि वीभत्स है!

अशुभ का यदि सृष्टि से अंत हो जाता है और सर्वत्र भगवद्मयी दृष्टि आ जाती है, यही ललित लीला है। इससे ललित और कुछ भी नहीं। दुनिया में छोटी-बड़ी, ललित और कठोर तो होती रहती है, मिटती रहती है – यह तो माया है। और,

लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कुछ चरित रचा भगवाना।।

लक्ष्मण ने भी यह मरम नहीं जाना कि ये असली सीता नहीं, नकली है जो बैठी है। **'जो कुछ चरित रचा भगवाना।'** एक नकली पुतला बन के सीता बैठ गयी।

रावण हरण करने आया। मारीच मृग बनकर भागा। उसने आवाज दिया– लक्ष्मण बचाओ, राक्षस ने मुझको मार दिया। लक्ष्मण ने सुना, चुप रहे। सीता ने सुना, घबड़ा गयीं। वह बोली– लक्ष्मण! तुमने सुना? लक्ष्मण बोले– हाँ माताजी, सुना। चराचर जगत एक हो जाय तब भी भगवान संकट में नहीं पड़ सकते। ये उस असुर की चालबाजी है। सीता बोलीं– अरे, तू भरत के इशारे से पीछे लग गया था कि राम संकट में पड़ेंगे तो सीता को मैं पा जाऊँगा। मैं आग में कूद जाऊँगी, प्राण दे दूँगी, पहाड़ से गिर जाऊँगी...

इतनी कड़वी बात लक्ष्मण सहन नहीं कर पा रहा था। लक्ष्मण ने कहा– माताजी, एक प्रार्थना है। हम यह लकीर खींचकर जा रहे हैं, रेखा खींचकर जा रहे हैं, इसके बाहर मत जाना। रामजी तो संकट में नहीं हैं, आप अवश्य संकट में हैं। यदि रेखा के बाहर नहीं जायेंगी तो आप संकट से बच जायेंगी।

लक्ष्मण भागकर गया तो राम ने कहा– अरे लक्ष्मण, तुम यहाँ? लक्ष्मण बोले– भइया, माताजी ने ऐसे-ऐसे बात कहा। राम बोले– अरे, औरतों की छींटाकशी करने से तू भाग आया। लक्ष्मण, मैं खुश नहीं हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि सीता अब कुटिया में नहीं है। लक्ष्मण बोले– नहीं, भइया, मैं रेखा खींचकर आया हूँ।

उधर जब लक्ष्मण चला गया तो रावण आया। बहुत बढ़िया साधु बनकर अलख निरंजन, राम-राम कहने लगा। जब सोचा, लेकर भागूँ, भीतर हाथ डाला तो जल गया। पाँव डाला तो जल गया। ऊपर आकाश तक देखा, इधर-उधर से जाँच किया तब आकर बैठ गया चौकी पर, लगा चिल्लाने– मैं तो राम ही राम पुकारूँ, और नाम न जानू। ओम् तत्सत्। तब सीता की आँख खुली, बोले– भगवन्! क्या चाहिए? रावण बोला– भिक्षां देहि। सीता बोली– भिक्षा तैयार है, आकर ले लेवें। रावण बोला– नहीं, मैं बँधी भिक्षा नहीं ले सकता। यहाँ कुछ जाल बिछा है, देखो, मेरे हाथ जल जाते हैं। बाहर आओ। सीता ने सोचा– महात्मा से क्या डर! भिक्षा देकर चली आऊँगी। जहाँ बाहर आयी तो रावण ने घेर लिया। फिर भागी सीता अंदर तो रावण ने घेर लिया– चल इधर। पकड़कर बैठा लिया विमान में। सीता बोलीं– मूर्ख, तुम्हारी मौत आ गयी, घड़ी भर खड़े रहो, भगवान आते ही होंगे, आते ही तुम्हें मार डालेंगे। अब रावण बहुत खुश हुआ– ये भी कहती हैं 'राम भगवान हैं', मारीच ने कहा 'भगवान हैं'। हमने सोचा भगवान हैं, और ये भी कह रही है भगवान, तो मन ही मन सीताजी के चरणों में प्रणाम किया और बाहर से तड़कता-भड़कता हुआ सीता को लेकर चल दिया और सोचा, हमारी योजना सफलता की ओर है। सीता का हरण तो उसने किया ही नहीं था। उसने सोचा था, सीता को ले जायेंगे तो राम आयेंगे, हमें मारेंगे,

मुक्ति पा जाऊँगा। **'होइहैं भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥'** वह तो अपना मन में यह सब विचार करके आया था।

अंत में रावण जब मारा गया तो सीता आने लगी पालकी से। जब विभीषण गद्दी पर बैठ गया तो सीता सजी हुई पालकी से आ रही थीं, वानर-दल उछल-उछलकर देख रहे थे कि जिसके लिए इतना घमासान युद्ध किया हम लोगों ने, आखिर वह कितनी सुंदर है, जरा देख तो लें। भक्तों का मन देखकर रामजी ने सीता को पैदल आने को कहा। पैदल जब चली तो बंदर बोले– भइया, नाक बढ़िया है, आँख बढ़िया है बिल्कुल खंजन की तरह। बाल कितने बढ़िया है, हाथ बढ़िया है.... हे भइया, पूँछ तो है ही नहीं। हे देखो, सीता को तो पूँछ है ही नहीं। **'सगरो साज सुघड़ तुलसी पर पूँछ बिना सब तुच्छ कहावत।'**

जीव जिस वातावरण में पला होता है, उसको वहीं सुंदर लगता है। अफ्रीका में गला, गरदन लम्बा होता है वह विश्वसुंदरी कहलाती है। वह रस्सी बाँध के गला को ऊँचा कर देती हैं, काफी लम्बा कर लेते हैं, फिर वो लाखों में एक मानी जाती है। तिब्बत में जिसकी नाक है ही नहीं, सफाचट, नाक की जगह केवल दो छेद, उसे देखकर कहेंगे– वाह, क्या सुंदर है। जिस देश में जो रहता है, उसको वही सुंदरता है। बंदर के लिए वहीं सुंदरता है– देख रे, पूँछ तो है ही नहीं। धत तेरे की, मर गये लड़ते-लड़ते इसी के लिए! इसको तो पूँछ है ही नहीं।

भगवान बोले– देखो सीते, भाई लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, भइया सुग्रीव, भइया विभीषण! तुम कहीं भी रह सकती हो। स्त्रियों के सम्मान की रक्षा के लिए हमने युद्ध किया था, वह कार्य पूरा हो गया। अब तुम जहाँ मन आवे, तहाँ जाओ। अब हमसे-तुमसे कोई मतलब नहीं। तब सीता ने कहा– लक्ष्मण! जरा आग तो जलाओ। लक्ष्मण ने आदेश का पालन किया, आग जलाया। बहुत जलाओ। खूब जला दिया। तब सीता उस आग में चली गयी। थोड़ी देर में अग्निदेव सीता को लेकर बाहर निकले, बोले– भगवन्! आपका स्पर्श पाकर मैं भी पवित्र हो गया। ये आदिशक्ति है, चिन्मय शक्ति

है, अविनाशिनी शक्ति है, सदा आपसे अभिन्न है। सीता का स्पर्श पाकर मैं भी परम पवित्र हो गया।

वास्तव में था क्या! वह नकली सीता थी जो रावण ले गया था। भगवान जानते थे, लक्ष्मण भी नहीं जानता था। नकली सीता आग में चली गयी और आग में से असली सीता लौट आयीं। इस प्रकार **'सिरजनहार न सीता ब्याही'**– सीता से ब्याह नहीं। वह तो शक्ति है, अभ्युदय होता रहता है, उठती रहती है। मोहरूपी रावण समूल नष्ट हो गया तो समूल विभूतियों से युक्त होकर वह साथ आती है।

'वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरे सो अन्धा।'–वह रघुनाथ एक है, उनका सुमिरन करो। अन्य किसी का सुमिरण करते हैं, वे अंधे हैं। और,

गोपी ग्वाल न गोकुल आया, कर्ते कंस न मारा।
है मेहरबान सबहिन को साहेब, ना जीता ना हारा।
संतो, आवे जाय सो माया।

'गोपी ग्वाल...'– गोपियों का ग्वाला न गोकुल आया और अपने हाथ से न कंस को मारा। वह **'मेहरबान है सबहिन को साहिब, ना जीता ना हारा।'** कंस का शरीर छूटा तो कंस ने पाया कि वह अपना स्वरूप पा गया। यह भी एक उद्धार का तरीका है। भगवान के आश्रित मर गया, कंस अपना स्वरूप पा गया, मुस्कुराने लगा। भगवान ने मारा नहीं, उद्धार कर दिया।

हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप तीन जनम तक राक्षस हो गये, अंतिम जनम में शिशुपाल हुआ जो भगवान श्रीकृष्ण के बुआ का लड़का था। भगवान के द्वारपाल दो थे– जय और विजय।

द्वारपाल हरि के प्रिय दोउ। जय औ विजय जान सब कोऊ॥
बिप्र साप से दोनोउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई॥

एक बार मारा भगवान ने, नहीं पार हुए। दो बार मारा भगवान ने, नहीं पार हुए। तीसरी बार में जय नामवाला राक्षस जो था, वह था

शिशुपाल। वह लगा भगवान को गाली देने– क्यों रे देवकी के पुत्र, तुम्हारी प्रथम पूजा। पूजा भीष्म की करो, अंधे धृतराष्ट्र की करो, दुर्योधन की करो। तू ग्वाला है, तेरे माँ-बाप का ठिकाना नहीं है, तू दोगला है। लगा भगवान को गाली देने। एकदम आगबबूला हो गया। बलराम ने कहा– कृष्ण! तू सुन रहा है? और भीम गदा उठाकर खड़े हो गये कि अभी मारकर गिरा देता हूँ। भगवान ने कहा– तुमलोग बैठो। हाँ, शिशुपाल और बोलो। दाऊ बोले– तू सुन रहा है? कृष्ण बोले– सुन नहीं रहा हूँ दाऊ, मालूम है, हमने बुआ को क्या वचन कहा था... कि मृत्यु के तुल्य सौ अपराध माफ करूँगा, फिर मारना ही पड़ेगा। बचपन में शिशुपाल को तीन नेत्र थे। बुआ ने ज्योतिषियों से पूछा था कि किसके हाथ इसकी मृत्यु है? उसे बताया गया था कि जिसकी गोद में जाते ही इसकी तीसरी आँख लुप्त हो जाय, उसी के हाथ से इसकी मृत्यु होगी, इसलिए बुआ सबकी गोद में डाल रही थीं। एक बार उन्होंने इसे मेरी गोद में डाला तो इसकी तीसरी आँख लुप्त हो गयी। बुआ मुझसे बोलीं– क्या तुम अपने भाई को मारोगे? हमने कहा था– कभी नहीं। सौ अपराध माफ करूँगा, फिर भी यदि न मानेगा तब तो मारना ही पड़ेगा।

अब लगा गाली देने। कृष्ण बोले– अच्छा, तीन अपराध बाकी है। शिशुपाल बोला– तीन नहीं, मैं तेरह गाली दूँगा। तू क्या कर लेगा, अहीर के छोकरे! खट्-खट्-खट्-खट् कुछ कह दिया– तू नीच है, नाचना जानता है लड़कियों के साथ, और क्या जानता है! तुरन्त गाली पूरी हुई तब भगवान ने चक्र उठाया। उसको उकसा रहे थे दुर्योधन, शकुनी... जो भी रहे हों। जब चक्र देखा तो सब ठण्डे हो गये। विश्व के हर शस्त्र का काट था, चक्र का किसी के पास नहीं। जहाँ चक्र चला तो शिशुपाल भागा। थोड़ी दूर जाते-जाते गला कटकर जमीन पर गिर गया और शिशुपाल का तेज भगवान के चरणों में समा गया।

विमान आया, शिशुपाल उसमें बैठकर चला गया। नारद रास्ते में मिले, पूछा– अरे, जय कहाँ थे तुम और कहाँ जा रहे हो? वह बोला– देवर्षि! लगता है मैं कहीं सोया था, आँख खुली तो भगवान सामने खड़े थे।

उन्होंने कहा– माता लक्ष्मी बुला रही हैं सेवा के लिए, तो मैं सेवा में जा रहा हूँ। तीन जनम पूरे हो गये, अंतिम जनम था, विमान भी आया और अपनी गद्दी पा गये। ठाठ से जाकर माता लक्ष्मी की सेवा में लग गये। अतः किये हुए भले-बुरे कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं।

'वै कर्ता नहीं बौध कहावै, नहीं असुर संहारा।'– वे बुद्ध नहीं कहलाये, न ही किसी असुर का संहार किया। **'ज्ञानहीन करता के भरमें, माया जग भरमाया'**–जो परमात्मा को कर्ता कहते हैं, ज्ञानहीन है, कर्ता के भ्रम में भटके हुए, भरमे हुए हैं। माया ने जगत को इसी प्रकार भरमा रखा है।

वै करता नहिं भये कलंकी, नहिं कालिंगहिं मारा।
ई छल बल सब माया कीन्हा, जत्त सत्त सब टारा।

कल्कि अवतार हुआ ही नहीं। कल्कि अवतार होगा तो कलिंग को मारेंगे। घोड़े में बैठकर नंगी तलवार लेकर दौड़ेंगे, मारेंगे। आजकल तो घोड़े में बैठकर आयेगा तो दूर से ही मारा जायेगा। ऐसे-ऐसे शस्त्र हैं, वह रास्ते में ही मारा जायेगा। यहाँ पहुँचेगा ही नहीं तलवार चलाने के लिए। उस समय जो परम्परा थी, वहीं लिख दिया, और क्या!

'दस अवतार ईश्वरीय माया'– माया के दो रूप हैं– अविद्या माया और विद्या माया। लक्ष्मण! **'मैं अरु मोर तोर तैं माया'**– 'मैं हूँ, मेरा है, तू है, तेरा है'– इसी का नाम माया है। **'तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥'** इस माया का भेद तुम भी सुनो। एक का नाम विद्या है, एक का नाम अविद्या है। अविद्या दुष्ट है। **'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। ता बस जीव परा भव कूपा॥'** दूसरी है विद्या– **'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहीं निज बल ताके॥'** विद्या सत, रज, तम त्रिगुणमयी प्रकृति को वश में करनेवाली है। लेकिन वह विद्या प्रभुप्रेरित है। अपनी बुद्धि से गणित लगाकर कोई नहीं सीख सकता।

कबीर कहते हैं– **'दस अवतार ईश्वरी माया'**– इसे भगवान समझकर मत पूजो। **'कहै कबीर सुनो भाई संतो, उपजै खपै सो दूजो।'**– जो

जन्मता है, मरता है, माया है। भगवान जन्म-मृत्यु से परे हैं।

महाभारत का युद्ध होनेवाला था। शकुनि ने कहा– इस कृष्ण के रहते हम सब नहीं जीत सकते। मैं जो योजना बनाता हूँ, ये पहले से ही जानता है। पता नहीं किस माटी का बना है। इसको फोड़ो, अपने में मिलाओ। तब दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को सादर प्रणाम किया, बोला– केशव, हम भी तो आप ही के हैं। आप किसकी तरफ से युद्ध करेंगे? भगवान कृष्ण बोले– दुर्योधन! मैं समदर्शी हूँ। मेरा न कोई शत्रु है, न मित्र है। न अपना है, न पराया है। जो पहले मेरे पास आयेगा, मैं उसकी ओर से युद्ध करूँगा। तो शकुनि ने दुर्योधन को पकड़कर खींचा, बेटा दुर्योधन! काम हो गया। अर्जुन नहायेगा, धोयेगा, दो घण्टा बैठकर पूजा करेगा, बड़ा लम्बा भगत है, उसको भक्ति करने दे। तू पहले पहुँच, रात्रि में ही चल दे।

दुर्योधन रात्रि में ही चल पड़ा, सोचा– पहले पहुँचेंगे तो मेरी ओर कृष्ण रहेंगे। श्रीकृष्ण भगवान देख रहे थे कि दुर्योधन आ रहा है। एक भव्य सिंहासन सिरहाने रख दिया, और चद्दर तानकर सो गये। दुर्योधन पहुँचा और सोचा– ओह, पहले मैं आया। लेकिन मैं बैठूँ कहाँ? मैं युवराज हूँ। जगह ढूँढ़ा तो कुर्सी दिखाई पड़ गयी। बहुत बढ़िया, एकदम सजा हुआ सिंहासन। अकड़कर बैठ गया– ओह, लगता है मेरे लिये ही बनी है। कृष्ण जानते थे कि युवराज पधार रहे हैं। कुछ भी हो, यदुवंशी अतिथि-सत्कार बड़ा बढ़िया जानते हैं। अकड़ कर बैठ गया।

इतने में अर्जुन पहुँचा। उसे पहले पहुँचने न पहुँचने की कोई चिन्ता नहीं थी। यह अपनी गुत्थी भगवान अपना बैठावें, सुलझावें, हमसे क्या मतलब! वह पहुँचा, सादर चरणों में प्रणाम किया और चरणों में ही हाथ जोड़कर बैठ गया। इतने में भगवान की आँख खुली, सीधे दृष्टि अर्जुन पर पड़ी। वह बोले– अर्जुन! तुम कब आये? इतने में दुर्योधन गुर्राया पीछे से, बोला– नहीं, पहले मैं आया हूँ। श्रीकृष्ण बोले– अच्छा, तो तुम भी आये हो। पहले मेरी दृष्टि अर्जुन पर पड़ी। पहले आया वो होता है जिस पर दृष्टि पड़े।

आड़ में पता नहीं क्या-क्या पड़ा है, कौन-कौन पड़ा है? दुर्योधन घबड़ाया, फिर ठग लिया क्या?

श्रीकृष्ण बोले– तुम चिन्ता मत करो। मेरे पास दो वस्तु है, एक-एक ले लो। एक तो नारायणी सेना, जिसने पराजय का मुँह कभी नहीं देखा; और दूसरा मैं अकेला, पर मैं युद्ध नहीं करूँगा, शस्त्र नहीं उठाऊँगा। एक-एक ले लो दोनों।

दुर्योधन बड़ी जोर से गुर्राया, वह बोला– पहले मैं आया हूँ, पहले मैं मागूँगा। श्रीकृष्ण बोले– हाँ हाँ, तुम ही माँग लो। तुम मुझे माँग लो। दुर्योधन बोला– युद्ध नहीं करना है, शस्त्र नहीं उठाना है तो कृपया अपनी नारायणी सेना दीजिए। श्रीकृष्ण मुस्कुराये, बोले– ठीक है। अजेय है नारायणी सेना, वह हमने दी। दुर्योधन जब नारायणी सेना के बीच में खड़ा हुआ, घूमकर देखा अर्जुन और कृष्ण दोनों की तरफ, वह दो ही थे, बहुत खुश हुआ। अब इस ग्वाले के पास बचा ही क्या है! बजाया करो बाँसुरी और दिया करो उपदेश। असली तो मैंने ले लिया।

अब भगवान घूमे अर्जुन की तरफ– अर्जुन! तुम? अर्जुन बोला– प्रभो! पहले माँगने की अनुमति देते तो भी मैं आपको ही माँगता। मुझे नारायणी सेना नहीं चाहिए। मुझे संसार की कोई सेना, कोई बल, कुछ नहीं चाहिए। मुझे केवल आप चाहिए। नहीं लड़ेंगे तो क्या होगा? आप जैसे-जैसे कहोगे, मैं लड़ता रहूँगा।

ठीक 18 दिन बीतते-बीतते नारायणी सेना का पता नहीं रह गया, दुर्योधन की जाँघ टूट गयी, धरती पर पड़ा था, विजय पाण्डवों की हुई। तो **'जाके रथ पर केशो, ता कहँ कौन अंदेसो'**। और केशव तभी थे, अभी नहीं, ऐसी बात नहीं। आज विद्यमान हैं। यहाँ विद्यमान हैं। कमी है तो हमारे भाव की, श्रद्धा की। **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परसंयतेन्द्रियः'**– श्रद्धावान ज्ञान प्राप्त करता है। उस तत्व के परायण संयतेन्द्रिय ही सफल होता है।

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

महापुरुष

योगी अवतार का प्रवेश है, एवं मात्र योगी ही अवतार-विशेष का प्राकट्य तथा प्रशस्ति का मूल माध्यम होता है। अधिकारी के लिए परमात्मा से निःसृत अलौकिक अवतरण का आरम्भ इन्हीं महापुरुषों से होता आया है। परम के दिग्दर्शनवाले उन तपोधन सद्गुरुओं से संचालित होता हुआ, साधन-क्रम से सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ जब तक सबके मूलभूत परमात्म-स्वरूप में समाहित नहीं हो जाता, तब तक योगी माध्यम रहता है। वस्तुतः एकमात्र योगी अवतार का प्रवेश एवं विशद् परमात्मा की रश्मियों का संचार है। यदि महापुरुष का अन्तःसंयोग न हो, तो भगवान तथा अवतार नाम की किसी वस्तु का सृजन एवं स्रष्टा असम्भव है।

भगवान कभी नष्ट नहीं होते। वे तो सबकी जीवनधारा में व्यवस्थित एवं अपरिवर्तनशील सत्ता हैं जो कभी नष्ट नहीं होते। उनकी विद्यमानता तो सदैव एवं सर्वत्र है; किन्तु मनुष्य के उपभोग के लिये नहीं। परमात्मा एवं उनसे निःसृत वाणी के प्रसारण के एकमात्र माध्यम तत्त्वस्थित महापुरुष हैं। ब्रह्ममय ऐसे महापुरुष यद्यपि अवतार के कार्यक्षेत्र की पकड़ से सर्वथा निष्काम एवं परे होते हैं, तथापि अन्य (नर) पुरुषों के अन्तःकरण में अवतार का अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण कल्याण-सृजन करने के लिए पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं।

इस सन्दर्भ में कबीर के जीवन-वृत्त से एक उदाहरण प्रस्तुत है। एक समय कबीर की भक्ति-भावना एवं हृदय-वेदन से उत्प्रेरित होकर गुरु और गोविन्द उनके समक्ष प्रकट हो गये (यह योग की पराकाष्ठा है)। कुछ समय के लिए कबीर विचाराधीन हुए कि नमन किसे करुँ?

बलिहारी गुरुदेव की, जिन गोविन्द दियो लखाय।

ऐसा विचार कर पहले उन्होंने स्वयं को गुरुदेव पर अर्पित किया क्योंकि उन्हीं के प्रसाद से परब्रह्म का दिग्दर्शन सम्भव हुआ और कबीर तत्क्षण उसी रूप में प्रवेश पा गये।

तहाँ न ईश्वर जीव न माया, पूजक पूज्य न चेरो।

वहाँ न ईश्वर है, न जीव है और न माया ही है। वहाँ न कोई पूजने योग्य है और न छुट-पुट टहल करनेवाला चेला ही है। तब बचा क्या? **'अवधू बेगम देश है मेरा'**–वह अगम्य और अथाह है। वही तो मेरा स्वरूप तथा देश है।

ऐसे निर्लेप उपलब्धिवाले महापुरुष उस परम चेतनात्मा की उपलब्धि का सूत्रपात् करते हैं, जो अवतार के परिवेश में आता है। उनके द्वारा उत्पन्न होनेवाली परमात्मा की पावन संचालिका शक्ति का नाम अवतार है। वे महापुरुष साधक के अन्तर्जगत् में परमात्मा की पावन शक्तियों का संचार उत्तरोत्तर विकसित करते हुए, सर्वत्र ब्रह्ममयता प्रदान करते हुए, उसका अस्तित्व मिटाकर अन्तर्धान हो जाते हैं, फिर तो वह योगी साधक नहीं रह जाता, अपितु मानव मात्र में उसे एक स्वरूप, शाश्वत सत्ता, प्रभु का ही प्रतिरूप दृष्टिगोचर होता है।

ऐसे महापुरुष शरीर को इच्छानुरूप चलानेवाले होते हैं, जैसा काकभुशुण्डि, कबीर, श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि महात्माओं के जीवन से प्रमाणित है। योग-विशेष की पराकाष्ठावाले प्रत्येक महापुरुष का यही स्वरूप है।

–'शंका-समाधान' से उद्धृत